मेरी आत्मकथा

विश्वकवि स्व० डॉ० रवींद्रनाथ टैगोर

प्रकाशक—
एस्० एस्० मेहता ऐण्ड ब्रदर्स
काशी।

[द्वितीय बार] सम्वत् २००४ [मूल्य ४)

प्रकाशक
पं० गिरिजाशंकर मेहता
एस० एस० मेहता एंड ब्रदर्स,
काशी।

नोबुल-पुरस्कार के निर्णायकों की रायः—

"For reasons of the inner depth and the high aim revealed in his poetic writings, also for the brilliant way in which he translates the beauty and freshness of his oriental thought into the accepted forms of western belles-letters."

मुद्रक—
पं० गिरिजाशङ्कर मेहता
मेहता फाइन आर्ट प्रेस, सूतटोला,
बनारस।

प्रथमावृत्ति का वक्तव्य

आज विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित 'मेरी आत्म-कथा' नामक पुस्तक को हिन्दी भाषा में पाठकों की सेवा में भेंट करते हुए हमें अपार आनन्द हो रहा है। पाठक इसके पूर्व दो आत्म-कथाएँ—एक महात्मा गांधी की तथा दूसरी पं० जवाहर-लाल नेहरू की—पढ़ चुके हैं। पर हमारी इस आत्म-कथा में और उनमें पाठक काफ़ी अन्तर का अनुभव प्राप्त करेंगे। इसका कारण यह है कि हमारी इस आत्म-कथा के लेखक स्वयं कवि तथा दार्शनिक हैं। इस कारण उन्होंने अपनी इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर अपनी अमर लेखनी का पुट देकर उसको काफी सुन्दर बना दिया है।

पाठकों को हम इस पुस्तक को काफ़ी पूर्व में भेंटकर चुके होते। पर उसमें विलम्ब होने का कारण यह हुआ कि जिस हमारे मित्र ने इसे प्रकाशित कराने का भार लिया था, वे कुछ निजी कारणों से उसे पूरा न कर सके, अतएव इसमें छपाई आदि में हमारा काफ़ी खर्च लग जाने से हमीं को उसे पूरा कर प्रकाशित करना पड़ रहा है। आशा है कि पाठक इस विलम्ब के कारण जो कागज आदि में मैलापन आ गया है, उसके लिये क्षमा करेंगे और इसे अपनाकर हमारे उत्साह को बढ़ाने की कृपा करेंगे।

द्वितीयावृत्ति का वक्तव्य

विश्वकवि स्व० डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखित 'मेरी आत्म-कथा शीर्षक पुस्तक बहुत ही पूर्व में प्रकाशित कर दी गई होती, किंतु कागज की देश में इतनी भारी कमी है कि इच्छा रखते

हुए भी हम उसे जल्दी प्रकाशित न कर सके। कागज का कोटा सरकार की ओर से उपलब्ध रहने पर भी कागज का प्राप्त होना एकदम ही कठिन हो गया है। कागज इस समय उन्हीं को प्राप्त होता है, जो या तो बड़े प्रभावशाली प्रकाशक या मुद्रक हैं अथवा जिनका कागज के व्यापारियों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव या दवाव पड़ता है। इससे वञ्चित हमारे-ऐसे छोटे-मोटे लोगों की इस समय में कागज के व्यापारियों के दरबार में एकदम ही पूछ नहीं है। खैर, कभी तो इस जुल्म का अन्त आएगा ही।

किसी प्रकार से इस बार हम इस पुस्तक को प्रकाशित कर अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में भेंट करने को उद्यत हो सके हैं।

आशा है। हमारे पाठक इसे अपनाकर पूर्व की तरह ही हमारे उत्साह को बढ़ाने की कृपा करेंगे।

भवदीय-

ता० ३-७-४७ मेहता बन्धु

परिचय

टमैन से एक वर्ष बड़े होकर भी रवि बाबू को नोबुल पुरस्कार एक वर्ष पीछे मिला है सन् १९१३ ई० में, जब इनकी अवस्था ५२ वर्ष की थी, इन्हें यह सम्मान प्राप्त हुआ। क्यों ?—"For reasons of the inner depth and the high aim revealed in his poetic writings; also for the brilliant way in which he translates the beauty and freshness of the orientale thought into the accepted forms of western belles-lettres."*

इन्हीं शब्दों में निर्णायकों ने इनकी प्रशंसा की है, और यह सर्वथा उपयुक्त भी है। परन्तु अंगरेजी में इनके ग्रंथों का अनुवाद होने के पूर्व स्वीडन के विद्वानों को इनका गौरव ज्ञात था। जैसा कि अर्नेस्ट रीज महोदय ने लिखा है, एक स्वीडन के ही पंडित के प्रस्ताव पर यह पुरस्कार इन्हें मिला है। यह समाचार जब रवि बाबू को मिला, तो हर्ष तथा खेदपूर्वक आपने कहा—"They have taken away my refuge."† अर्थात् इन लोगों ने तो मेरी शांति छीन ली। इस वाक्य में ही विश्वकवि रवि बाबू को

---

*Inscription with the Nobel Prize Award in Literature, 1913.

†Rabindranath Tagore: a Biographical study by Ernest Rhys (New York, 1915).

सारी प्रतिभा की संपत्ति भरी है। प्रारम्भ से ही वह शांति एवं एकांत के प्रेमी रहे हैं, और अब भी अपने शांति-निकेतन में वह मनु भगवान तथा अपने पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ के आदर्शों को जीवित रखने का महत्व-पूर्ण परिश्रम करते रहते हैं।

संवत् १६१८ में इनका जन्म कलकत्ते के प्रसिद्ध टैगोर वंश में हुआ, जिनमें महाराज सर सौरींद्रमोहन ठाकुर बड़े ही प्रभावशाली कला प्रेमी हो गए हैं। इनके पिता भी महाराज हुए होते; पर महर्षि होना ही इन्हें अधिक पसंद आया। इन्हीं देवेन्द्रनाथ के सात सुपुत्रों में रवि बाबू सबसे छोटे हैं। माता इनकी छुटपन में ही मर गई थीं, जिससे बाल्यावस्था में ये प्रायः पिता के ही साथ रहा करते थे। पिताजी भी अधिकतर बाहर ही घूमा करते थे। बस, उन्हीं के साथ यह भी थोड़ी ही अवस्था में, पंजाब आदि प्रांतों में हो आए थे। अपनी स्मृतियों* में इन्होंने इस समय का बहुत विशद वर्णन किया है। आप लिखते हैं कि नौकर घर-भर के बच्चों को परेशान किया करते थे, और कभी-कभी तो दिन-भर एक ही स्थान पर बैठाए रहते थे। कई पाठशालाओं में पढ़ने गए, पर कहीं भी चित्त नहीं लगा। सभी इन्हें कारागार-सदृश दिखलाई देती थीं। अपनी एक कहानी में जहाँ इन्होंने छोटे छोकरे का चित्रण किया है, वहीं मानो अपनी ही बाल्यावस्था का वर्णन कर दिया है। इसप्रकार कई स्थलों पर अपने प्रारम्भिक जीवन के दृश्य इन्होंने, अपनी पुस्तकों में, चित्रित कर दिए हैं, जिनसे पता चलता है कि उस समय का इनके भावी जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है।

*My Reminiscences by Tagore (New York, Macmillan, 1917.)

पिता के साथ हिमालय की ओर घूमते समय इन्होंने कुछ कविताएँ लिखीं और भी बहुत-सा काव्य 'भानुसिंह' नाम से लिखा। जो कई स्थानों में प्रकाशित भी हुआ और लोग समझने लगे कि भानुसिंह कोई प्राचीन मैथिल कवि हो गए हैं। इसी हिमालय-यात्रा में, आधुनिक शांति-निकेतन से इनका परिचय हुआ; क्योंकि इसी बोलपुर-स्थान पर इनके पिताजी ठहरते थे, उन्हें यहीं शांति मिलती थी। इस यात्रा में बालक रवि को अनेक दृश्य देखने को मिले और कुछ मनोरञ्जक घटनाएँ भी हुईं। उस समय दूर-दूर प्रांतों में आना-जाना इतना सरल न था, जितना आजकल। सबसे बड़ी बात यह थी कि बालक को अभी तक कहीं बाहर जाने का अवसर भी नहीं मिला था, जिसके कारण इस यात्रा का उसके दृष्टिकोण पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अपनी आत्म-कथा में यह लिखते हैं—'बड़े से मकान में, जहाँ परिवार के सभी छोकरे-छोकरी एक स्थान पर रहा करते थे, नौकरों के कारण बड़ा कष्ट होता था। कभी तो कई दिन तक बड़े बूढ़ों से मिलने का अवसर ही न मिलता, कभी नौकर शरारत के मारे इनका दूध ही पी जाते और कभी-कभी तो घंटों एक जगह बैठाए रहते" एक घटना का वर्णन इस ग्रन्थ में विशद रूप से है। नौकर ने इन्हें एक जगह बैठाकर कहा—"यहीं बैठे रहो, और जब तक मैं न आऊँ, इस रेखा के बाहर पैर मत रखना।" -यही कहकर उसने इनके चारों ओर एक परिधि खींच दी। बस, बेचारे सीता की भाँति लक्ष्मण की खींची हुई रेखा के भीतर ही चुपचाप बैठे रहे। न खाना मिला, न पानी!" इसीप्रकार इस पुस्तक में लड़कपन की पाठशाला की भी संस्मृतियाँ हैं, जिनसे प्रकट होता है कि प्रारम्भ से ही इन्हें अध्यापकों के अत्याचार से घृणा हो गई थी। कभी बेचारे पाठ

न याद करते, तो घंटों धूप में खड़ा रहना पड़ता था। यह व्यवहार इन्हें विशेष अखरता था, क्योंकि छुटपन में ही माता का देहांत हो जाने से इनके जीवन में एक अभाव-सा रह गया था, जिसकी पूर्ति इनके पिताजी किसी प्रकार प्रगाढ़ प्रेम से भी नहीं कर सकते थे।

युवावस्था में इन्होंने बंगाल के वैष्णव कवियों, विशेषतः विद्यापति एवं चंडीदास का अनुकरण करके काव्य प्रारंभ किया। बीस वर्ष के पूर्व ही 'प्रभात संगीत' तथा 'संध्या-संगीत' नामक इनके दो संग्रह प्रकाशित हुए और तदनन्तर तेईस की अवस्था में इनका विवाह हो गया। पिताजी का विचार था कि देहात जाकर यह गंगाजी के किनारे जमींदारी का कारबार देखते रहें, पर इन्हें यह बहुत पसन्द नहीं था। फिर भी प्रकृति प्रेम के कारण ही यह 'शिलैदा' के इलाके पर तैनात हुए और संसार का अनुभव इन्हें बड़ा ही हितकर सिद्ध हुआ। साधारण जनता का नग्न जीवन इनके सम्मुख आ गया, और कलकत्ता के जीवन की अपेक्षा, जिसमें इनका बाल्यकाल बीता था, यह अधिक आवश्यक प्रतीत होने लगा। यहीं इनके एक आध नाटक भी लिखे गये, जिनमें-से प्रधान 'राजा-ओ रानी' है। कितनी ही गल्पें भी लिखीं। 'माली' नामक ग्रन्थ* के अधिकांश अंशों का मसाला भी यहीं के जीवन के फल-स्वरूप जान पड़ता है। इस प्रकार लेखन-काल के ढाई सत्रह वर्ष इन्होंने गंगा-तट पर व्यतीत किए और बड़े सुख से रहे। कई बच्चे भी यहीं हुए, और देहात के लोगों से भी बहुत प्रेम भाव हो गया। बीमारों की

*The Gardener, जिसका अनुवाद 'बागवान' नाम से पं॰ गिरिधरशर्माजी ने किया है।

दवा-दारू करना, उनके शुद्ध सरल जीवन का अध्ययन करना तथा उनके दुःख-सुख में सम्मिलित रहना—यही वहाँ के जीवन का ध्येय था। एक बार उधर अतिवृष्टि के कारण धान की फ़सल न हुई, और अकाल पड़ गया। इनकी सहानुभूति किसानों के साथ थी, और यह उनके प्रतिनिधि से बन गए। अङ्गरेज़ों तथा अङ्गरेजी-सरकार के नौकरों से इसी कारण खटपट होने लगी, और वे इन्हें राष्ट्रद्रोही एवं बागी कहने लगे। पर इनका आदर्श तभी केंद्रीभूत होकर सरलता तथा प्रकृति-परायणता की ओर जा टिका। युवावस्था में यह कितने ही ठाट-बाट से रहते थे, जितने ही समाज-प्रिय थे, उतने ही अब सीधे-सादे तथा एकांत-प्रिय हो गए हैं।

इसका कारण एक और भी था। इसी बीच में इनपर पारिवारिक विपत्तियाँ आ पड़ीं। पहिले तो पत्नी का स्वर्गवास हो गया, फिर कुछ ही महीनों के भीतर लड़की का भी देहांत हुआ। थोड़े ही दिनों बाद सबसे छोटा लड़का भी चल बसा। पत्नी, पुत्र एवं पुत्री, तीनों ही इनके परम प्रिय थे, विशेषतः पत्नी तो इनकी प्राणप्रिया ही थीं। इन आकस्मिक घटनाओं के कारण इनके जीवन में कुछ विषमता आ गई। अवस्था भी अब चालीस की हो चली थी, और देहात के दुखपूर्ण जीवन को देखकर इनको गाँव के लोगों की सहायता करने के लिए एक समस्या रूकी थी, उसमें भी बाधा पड़ गई। इनकी इच्छा थी कि अपने पिताजी के प्रिय स्थान बोलपुर में ही एक छोटा-मोटा उपनिवेश तथा आश्रम खोलें। इन सब झमेलों के कारण इनका चित्त बड़ा उद्विग्न हो उठा, और इन्हें आध्यात्मिक तथ्य तथा धार्मिक रहस्यों की ओर बड़ी रुचि होने लगी। इसी समय के विषय में इन्होंने लिखा—'This death time was a blessing to me. I had

through it all, day after day, such a sense of fulfilment of completion, as if nothing were lost. I felt that if even a single atom in the universe seemed lost, it would not really be lost. I knew not what death was. It was perfection—nothing lost!"*

थोड़े ही दिन बाद यह तबीयत बहलाने के लिए योरप तथा अमेरिका चले गए। तब तक इन्हें पुरस्कार नहीं मिला था। कारण यह था कि इनकी पुस्तकों का अनुवाद ही नहीं हुआ था। अमेरिका जाने का एक यह भी उद्देश्य था कि उस देश की कृषि-सम्बन्धी उन्नति से लाभ उठाकर अपने अनुभवों का प्रयोग बोलपुरवाले आश्रम में करें। इसी लिए अपने साथ सबसे बड़े लड़के रथीन्द्रनाथ को भी ले गए। सन १९१२ ई० की बात है, वहाँ एक सज्जन बसन्तकुमार राय महोदय ने इनसे नोबेल-पुरस्कार के सम्बन्ध में वार्तालाप किया और यह कहा कि संभवतः अगले साल आपको यह पुरस्कार मिले। इसी भावना से प्रेरित होकर लोगों ने इनसे अपने ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवाद के लिए भी कहा। इसका विश्वास स्वयं टैगोर महाशय को नहीं था, और न उन्हें इसके लिए कोई विशेष उत्कण्ठा ही थी। हाँ, इतना उन्होंने अवश्य कहा कि "यदि कभी यह पुरस्कार मुझे मिलेगा, तो उसका सारा रुपया बोलपुर-पाठशाला में एक व्यापारिक विभाग खोलने में लगाऊँगा।†

---

*Rabindranath Tagore by Ernest Rhys, page 18 (Macmillan & Co.)

†Rabindranath Tagore by B. K. Roy (New York, 1915.)

बात ठीक निकली और दस महीने के बाद ही इनके पुरस्कृत होने की घोषणा प्रकाशित हुई। कितने ही लोग कहते थे कि वास्तव में रवि बाबू ने पूरे क विभाग में कुछ-न-कुछ लिखने के लिए टाँग अड़ा दी है और सचमुच इन्हें पुरस्कार नहीं मिलना चाहिए था। परन्तु निर्णायकों ने अपनी सम्मति ५वें पेज पर प्रकाशित अगरेजी दी थी। इन निर्णायकों को प्रायः यह पता भी न था कि रवि बाबू की कृतियों की संख्या कितनी है; क्योंकि तब तक तो एक आध का ही अनुवाद हुआ था। बात यह हुई कि स्वीडन के एक प्राच्य पुरातत्वज्ञ निर्णायक-समिति के सदस्य थे और उन्होंने इनकी अधिकांश कविताएं बँगला में पढ़ी थीं मुख्यतः इन्हीं के कारण यह पुरस्कार टैगोर महोदय को मिला भी है। पुरस्कार मिलने के पश्चात् अपनी कई पुरानी पुस्तकों के अनुवाद इन्होंने स्वयं किए हैं, और अपने जीवन संस्मरण भी लिखे हैं। तब से तो इनके ग्रन्थ धड़ाधड़ छपने लगे, और जितनी आय ग्रन्थों से हुई है, सभी शांति-निकेतन की उन्नति में ही लगा दी है। दो ही वर्ष बाद, सन् १९१५ ई० में, 'सर' की उपाधि भी मिली, पर थोड़े ही दिनों बाद, असहयोग के दिनों में इन्होंने उसे लौटा दिया और इसी सम्बन्ध में वाइसराय को एक लम्बा-चौड़ा पत्र भी लिखा।

शांति निकेतन की स्थापना १९०२ ई० में ही हो गई थी और इसके लिये अपने पिता से रवि बाबू ने स्वीकृति भी ले ली थी। उन्हीं के शब्दों में इसका उद्देश्य यह था—'To revive the spirit of our ancient system of education........to make the students feel that there is a higher and anobler thing in life than practical efficiency !" इस स्थान पर अभी तक पूज्य महर्षि देवेन्द्रनाथजी की स्मृति-शिला

एक पुराने पेड़ के नीचे गड़ी है; जिसपर बँगला में लिखा है—

"तिनि
आमार प्राणेर आवास
मनेर आनंद
आमार भक्ति।"

लड़के यहाँ बड़े आनन्द से जीवन व्यतीत करते हैं। कोई कोई तो लौट कर घर जाना भी अस्वीकार कर देते हैं। संभवतः इस आश्रम के विषय में पाठकों को फिर कभी अलग से लेख मिलेगा। तब तक यही कहना पर्याप्त होगा कि सारे भारतवर्ष में इने-गिने गुरुकुलों को छोड़ कर महात्मा गांधी के साबरमती आश्रम के बाद यही स्थान ऐसा है, जो प्राचीन आश्रमों की झलक दिखाता है।

लोगों का खयाल है कि पुरस्कार इन्हें 'गीतांजलि' नामक पुस्तक पर मिला है। पर बात यह है कि यह पुरस्कार किसी ग्रन्थ-विशेष पर नहीं, लेखक की समग्र प्रतिभा पर ध्यान देते हुए उसके सारे साहित्यिक कार्य पर मिलता है। यह अवश्य है कि उसके सर्वोत्तम ग्रन्थ के कारण लोगों का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकर्षित हो। गीतांजलि है भी इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों में-से। पर इनकी सभी कृतियों में एक विशेष गुण यह है कि इनमें एक ओर तो संसार का और दूसरी ओर स्वर्ग का संपर्क मिलता है। गीतांजलि की ही एक आध पंक्तियों को लीजिये। प्रारंभ में ही कवि की सरल विनयपूर्ण प्रार्थना सुनिए—

'आमार माथा नत करे दाओ हे तोमार,
चरण-धूलार तले
सकल अहंकार, आमार हे डोवाओ
चोखेर जले।'

अर्थात् अपनी चरण धूलि के नीचे मेरा मस्तक नत कर दो और मेरे चक्षुओं के अश्रु सागर में मेरे अहंकार रूपी पर्वत को डुबा दो।

भला कौन ऐसा अभिमानी होगा, जो इन पंक्तियों को पढ़कर रोने न लगे? चाहे यह परमात्मा से कहा गया हो अथवा किसी उपास्यदेव किंवा प्रेमी विशेष से, पर इसके अक्षर-अक्षर में करुण है, विराग है, सहृदयता एवं सरलता है। एक स्थल पर कवि अपने उपास्य भगवान् से आँखमिचौनी खेलता है, और जब ढूँढ़ कर थक जाता है, तो कहता है—

एमन आँड़ाल दिए लुकिये गेले चलबे ना।

× × ×

जानि आमार कठिन हृदय,
चरण राखार योग्य शे नय।
तबु सखा कि तोमार बताश लागले,
आमार प्राण कि गलबे ना?

प्रेमी कहता है—मैं जानता हूँ, मेरा कठोर हृदय तुम्हारे चरण-कमल रखने योग्य नहीं हैं, पर क्या तुम्हारे सम्पर्क से वह प्रस्तर द्रवीभूत न हो जायगा? यह भक्ति भी सखाभाव की है, जिसमें परमात्मा भक्त का भाई बन जाता है।

इनके सभी ग्रन्थों में मुझे 'दूज का चाँद' (Greaceut Moon) सबसे अधिक भाता है। इसमें बाल्य-काल के सौंदर्य के साथ-साथ दार्शनिक तत्वों का समावेश भी मिलता है, और यद्यपि यह लिखा गया था बच्चों के लिये, तथापि वृद्ध-युवा, सभी इससे आनन्द उठा सकते हैं। इसका उर्दू तथा हिन्दी, दोनों में ही अनुवाद हो चुका है। कभी छोटा बच्चा माँ से प्रश्न

२

करता है, और कभी माँ बच्चे से। इसी प्रकार अनेक गूढ़ प्रश्न इसमें सुलझाए गए हैं। इसीप्रकार 'डाकघर' (The Post Office) में भी सरल ढंग से बड़े सत्य की विवेचना की गई है। एक छोटे छोकरे को यह सूझता है कि मेरे पास महाराजाधिराज की चिट्ठी आएगी। उसकी प्रतीक्षा में वह घुलते-घुलते मर जाता है—परमात्मा उसे अपने 'डाकघर' द्वारा अपने पास बुला लेता है। बाल-साहित्य के इस विवेचन से रवि बाबू उसी विचार के जान पड़ते हैं, जिसके अनुसार, अंग्रेजी के महाकवि वर्ड्सवर्थ के शब्दों में, हम लोग बाल्य-काल में परमात्मा के निकट रहते हैं, और ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों उससे दूर भागते जाते हैं—

"Trailing clouds of glory do we come,
From God who is outes home."‡

इसी प्रकार 'चित्रा' नामक नाटक में स्त्री के आध्यात्मिक तथा पार्थिव गुणों का, 'संन्यास' में त्याग का तथा 'अंध कोठरी के राजा' (King of the Dark chamber) में बौद्धधर्म का विवेचन है। 'गोरा नामक उपन्यास तो कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हुआ है, जिसमें अर्वाचीन भारत के एक आदर्श नवयुवक की आकांक्षाओं की पूर्ति का खाका है। दो गद्यात्मक निबंधों— Personality एवं Nationalism—में उच्चकोटि के देश प्रेम तथा आदर्श की मनोरम व्याख्या है। इनके सभी ग्रन्थों की संख्या कई दर्जन है, और बीस पोथियों में इनके संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

---

‡Wordsworth: Ode on the Intimation of Immortality from Childhood.

रवि बाबू का बाहर बहुत आदर है। आप कितनी ही बार निमंत्रित होकर योरप जा चुके हैं। अभी-अभी लीग आफ नेशन्स की ओर से एक महत्वपूर्ण पुस्तक छप रही थी। इसमें संसार भर के सभी बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मतियाँ इस विषय पर रहनेवाली थी कि विश्वव्यापी शांति कैसे हो। इसके लिये रवि बाबू की भी सम्मति माँगी गई थी। इस समय इनकी अवस्था ७९ वर्ष की है। थोड़े ही दिन हुए, यह चीन, स्याम, बोर्नियो आदि में प्राचीन हिन्दू सभ्यता का अध्ययन करने गए थे। अब तक इनकी पुस्तकों का ताँता बँधा हुआ ही है। अंगरेजी में एक सग्रह 'Fireflies' (जुगुनू) नाम से भी छपा है। उधर 'बहुरानी' नामक उपन्यास भी प्रकाशित हुआ है। छोटे-मोटे उपन्यास और गल्प, लेख आदि ये लिखते ही रहते हैं। नोबेल-पुरस्कार-प्राप्त लोगों में शायद जितने ग्रन्थ इनपर लिखे गए हैं, उतने और किसी व्यक्ति पर नहीं, और यह सब इनके जीवन-काल में ही। यों तो उनके चिर-संगी देशबंधु सी० एफ़० एंडरूज महोदय हैं पर कई अन्य अंगरेजों ने भी इनपर, विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं। एक तो है इनकी जीवनी पर, और दूसरा इनके ग्रन्थों पर। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक और कवि रोम्याँ रोलाँ महोदय ने महात्मा गाँधी पर जो ग्रन्थ लिखा है, उसमें भी रवि बाबू एवं गाँधीजी की अच्छी विद्वता-पूर्ण तुलना की गई है। एक दूसरा महत्पूर्ण ग्रंथ है रवि बाबू के दार्शनिक सिद्धांतों पर। इन सिद्धांतों में प्रसिद्ध धर्म प्रवर्तक निमाई तथा कबीर के तत्वों की झलक मिलती है, और रवि बाबू स्वयं इन दोनों के ऋण को स्वीकार करते हैं। कबीर के गीतों में-से १०० का तो इन्होंने स्वयं अङ्गरेजी में अनुवाद भी किया है, यद्यपि इस अनुवाद में कबीर के दर्शन से अधिक रवि बाबू का ही अपना आ गया है।

रवि बाबू देखने में भी बड़े सौम्यमूर्ति हैं। आप गाते बहुत अच्छा हैं, और दूर देशों में श्रोतागण प्रायः आपकी कविताओं को आपके ही श्रीमुख से सुनते हैं। हमने इन्हें गाते भी सुना है, और वार्तालाप में इनका सौजन्य भी देखा है। कई ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए हमने इन्हें पत्र भी लिखा, तो तुरंत आपने आज्ञा दे दी है। एक बार इन्हें रेशम-ही-रेशम पहने देख-कर हम लोगों ने पूछा—आप खद्दर क्यों नहीं पहनते? क्या उसमें अधिक सादापन नहीं है? आपने धीरे से उत्तर दे दिया—'Simplicity is not a bundle of negatives, it is a harmonious synthesis of opposites'—अर्थात् सादगी 'न' कार का संग्रह नहीं, वैषम्य का एकीकरण है। आप महात्माजी के चर्खावाद अथवा असहयोगवाद को भी नहीं मानते। जो कुछ हो, यह तो वैयक्तिक विचार है। रवि बाबू भारत-माता के भाल के सुललित तिलक हैं। परमात्मा इन्हें दीर्घजीवी करे, जिससे इनके सम्पर्क से और कई रवि बाबुओं का देशाकाश में उदय हो।

आज आपकी लिखी हुई 'मेरी आत्म-कथा' के साथ उपरोक्त पंक्तियों को जोड़ते हुए प्रसन्नता हो रही है। आशा है कि पाठक इससे भी लाभ उठाकर मेरे परिश्रम को सफल बनाने की कृपा करेंगे।

दूसरे संस्करण का परिचय

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण जब छपा था, उस समय में हमारे आराध्य गुरुदेव विश्वकवि डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर जीवित थे। १४वीं एप्रिल सन् १९४१ ई० को आपकी ८०वीं वर्ष गाँठ गई। वह जन्मगाँठ मनाई तो गई अवश्य, किन्तु अत्यन्त

ही सादगी के साथ में। इसप्रकार करने का मुख्य कारण दूसरा कुछ भी नहीं, आप उस समय में अस्वस्थ थे। इसी काल में आपने 'सभ्यतार संकट' नामक संदेश दिया था। जिससे देश भर में आपके प्रति लोगों की आस्था और भी बढ़ गई। इसी वर्ष त्रिपुरा-नरेश ने 'भारत-भास्कर' की आपको उपाधि प्रदान करने की कृपा की थी। इसी वर्ष में ब्रिटिश पार्लमेंट की सदस्या इलेनर रैथबोन के भारतीयों के नाम खुले पत्र का आपने मुँह तोड़ उत्तर भी दिया था।

डॉक्टरों के उपचार से लाभ न होने पर आप कलकत्ते लाए गए, जहाँ ३० जुलाई को आपका आपरेशन हुआ। आपरेशन के बाद आपकी अवस्था बराबर बिगड़ती ही गई और ७ अगस्त को दिन के १२ बजकर ७ मिनिट पर आपका स्वर्गवास हो गया।

इसप्रकार उनकी लिखी 'मेरी आत्म-कथा' में उनका परिचय पूर्णरूप से व्यक्त करने के लिए उपरोक्त कुछ पंक्तियाँ जोड़ना इस संस्करण में उचित जान जोड़ दिया गया है। आशा है पाठक इसके लिए क्षमा करने की कृपा करेंगे।

प्रस्तावना

यद्यपि मुझे यह मालूम नहीं है कि स्मृति-पटल पर कौनसा चित्रकार चित्र बनाता और उनमें रंग भरा करता है, परन्तु यह कोई है अवश्य, जो अपनी इच्छानुसार चित्रों में रंग भरता रहता है। वह कोई प्रत्येक घटना का चित्र हूबहू बनाने के लिये हाथ में रंग की कूँची लेकर नहीं बैठा है, किन्तु वह अपनी अभिरुचि के अनुसार जिन बातों को लेना चाहता है, उन्हें लेता है और बाकी की बातों को छोड़ देता है। वह कितनी ही महत्वपूर्ण बातों को तुच्छ बनाता है और तुच्छ बातों को महत्व देता है। महत्व की बातों को पीछे ढकेलने और तुच्छ बातों को—जिनकी ओर कभी किसी का लक्ष्य तक नहीं जा सकता—महत्व देकर आगे लाने में उसे कुछ विशेषता नहीं प्रतीत होती। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि वह चित्रों में रंग भरता है, इतिहास की रचना करने नहीं बैठता।

इस प्रकार जीवन की दो बाजुएँ हैं। बाहर की बाजू की एक ओर के बाद एक घटना घटती जाती है और भीतर की ओर घटनाओं की प्रतिमाओं में रंग भर जाता है। दोनों में यद्यपि साम्य है, परन्तु दोनों एक रूप नहीं हैं।

हमारे अन्तर में रही हुई इस चित्रकार की चित्रशाला को

पूर्णरूप से देखने का हमें सुभीता नहीं मिलता। बीच-बीच में उसके कुछ भाग हमारी दृष्टि को आकर्षित कर लेते हैं, परन्तु उसका बहुत बड़ा भाग हमको दिखलाई ही नहीं पड़ता, न उसका ज्ञान ही हमें हो पाता है। और न किसी को यह मालूम ही है कि यह चित्रकार चित्रों को क्यों बनाता है? इसका काम कब पूरा होगा और किस चित्र भवन के लिये यह चित्र बना रहा है?

कुछ वर्षों पहले मेरी गत आयुष्य के वृत्तान्त के सम्बन्ध में प्रश्न उत्पन्न हुआ था। उस समय मुझे इस चित्र मंदिर का सूक्ष्म अवलोकन करने की संधि मिली थी। मैंने अपने आयुष्य-क्रम का इतिहास कथन करने के लिए अल्प साधन-सामग्री पर-से ही काम निकालने का विचार किया। परन्तु जब मैंने स्मृतिपटल पर के चित्र मंदिर के द्वार को खोला तो मुझे मालूम हुआ कि आयुष्य की स्मृति, जीवन का इतिहास नहीं है, किन्तु अज्ञानी चितेरे द्वारा उसकी कल्पना के अनुसार बनाए हुए चित्र हैं। उस पट पर जो इधर-उधर चित्र विचित्र रंग फैला हुआ है वह बाह्य दृश्यों का प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु चितेरे के उस अन्तःकरण का आदर्श है, जिसमें उसके विकारों की छटा छाई हुई है। इस कारण स्मृति पट की यह टिप्पणी न्याय की अदालत में सबूत के लिये उपयोगी नहीं। स्मृति-भण्डार की सहायता से विश्वसनीय इतिहास उपलब्ध न होने पर भी स्मृति-चित्रों का मोह मनुष्य को होता ही है और उसी प्रकार का कोई मुझे भी हुआ है।

जिस मार्ग से हम प्रवास करते हैं और मार्ग के अगल-बगल के जिन निवास स्थानों पर [illegible] प्रवास की थकावट दूर [illegible] हैं, वह मार्ग और वे ही [illegible] वास के समय [illegible]

के रूप नहीं हैं, किंतु प्रत्यक्ष वस्तु हैं। उनकी अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु प्रवास के समय जिस शहर, जिस खेत, जिस नदी, जिस पर्वत और जिस पहाड़ी में-से हमने प्रवास किया है उनकी ओर रात्रि के मुकाम पर जाने के पहले सन्ध्या समय में यदि हम दृष्टि फेंकते हैं, तो अस्त होते हुए सूर्यनारायण के प्रकाश में वे सब चित्रवत् दिखने लगते हैं और उससे मन भी भर जाता है। उसीप्रकार संधि मिलते ही मैंने जो गत आयुष्य की ओर देखा, तो उसके चित्रों ने भी मेरा मन मोहित कर लिया।

इन चित्रों की ओर मेरा मन आकर्षित होने में संभव है कि मेरे गत जीवन के सम्बन्ध में मुझे जो स्वाभाविक प्रेम है वह कारण होगा, परन्तु इस व्यक्ति विषयक कारण के अतिरिक्त भी उन चित्रों में मनोवेधकता की दृष्टि से स्वतन्त्र योग्यता अवश्य है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। यद्यपि मेरी जीवन स्मृति में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसके कारण जगत् के अन्त तक उसे सँभाल कर रखा जाय। परन्तु किसी भी विषय की टिप्पणी रखने में उस विषय का महत्व ही कारण नहीं होता, किन्तु जिन जिन भावनाओं का अपने को अन्तःकरणपूर्वक अनुभव होता है उनका साक्षात्कार यदि दूसरों को कराया जा सके, तो यह अपने समाज-बन्धुओं को सदा उपयोगी होता है। यदि स्मृति गत चित्रों का प्रतिबिम्ब शब्दों द्वारा खींचा जा सके तो साहित्य में उसे स्थान मिलना ही चाहिए, और इसी साहित्य के नाते से मैं अपना स्मृति-चित्र पाठकों के सम्मुख रखता हूं। यदि कोई इसे स्वतः के चरित्र लेखन का प्रयत्न समझेगा तो उसकी भूल होगी और उस दृष्टि से यह स्मृति निरुपयोगी और अपूर्ण होवेगी।

मेरी आत्मकथा

१

हम तीन बालकों का लालन-पालन एक ही साथ होता था। मेरे साथी मुझसे दो वर्ष बड़े थे। इन्हें पढ़ाने के लिये एक शिक्षक भी नियत किया गया था। इन दोनों के साथ ही मेरी शिक्षा का भी प्रारम्भ हुआ। परन्तु मैंने क्या पढ़ा, यह मुझे बिलकुल ही स्मरण नहीं है। हाँ! केवल एक वाक्य मुझे बार-बार याद आता है कि:—

"पानी रिमझिम-रिमझिम पड़ता है, झाड़ों के पत्ते हिलते हैं।" दो अक्षरी शब्दों का पाठ मैं सीख चुका था और आद्य कवि की यह पहली कविता 'पानी रिम-झिम, रिम-झिम' मैं पढ़ा करता था। जब-जब उन दिनों के आनन्द की मुझे याद आती है, तब-तब कविता में यमकों की इतनी आवश्यकता क्यों है—यह मेरे ध्यान में आ[illegible] है। अर्थात् यमक के कार[illegible]

प्रकार से शब्द का अन्त हो जाता है और दूसरे प्रकार से ना होता। अर्थात् शब्दोच्चार तो पूरा हो जाता है, परन्तु उसके बाद घूमता रहता है। और कान व मन में यमक रूपी गेंद को एक दूसरे की ओर फेंकने की शर्त मानो लग जाती है। इसीलिये ऊपर बतलाई हुई कविता के शब्द दिन-दिन भर मेरे कान के आगे गूँजते रहते थे।

मेरी बिल्कुल ही छोटी अवस्था की एक बात मुझे अच्छी तरह याद है कि हमारे यहाँ एक वृद्ध जमादार था। उसका नाम था कैलास। वह हमारे यहाँ कुटुम्बीजनों के समान ही माना जाता था। वह बड़ा ठठोल था। और छोटे से बड़े तक सबकी दिल्लगी वह उड़ाता था। विशेषकर नये विवाहित जमाई और घर में आने जानेवाले नए मनुष्यों को वह खूब ही बनाता था। लोगों का यह विश्वास था कि मरने के बाद भी कैलाश का वह स्वभाव नहीं छूटा। उनके विश्वास का कारण भी था। वह यह था कि एक समय हमारे कुटुम्ब में प्लेन्चेट नामके यन्त्र द्वारा परलोक गत व्यक्तियों से पत्र व्यवहार करने का काम बहुत जोर पकड़ गया था। एक दिन इस पेंसिल के द्वारा 'कैलाश' नाम लिखा गया। तब कैलाश से पूछा गया कि परलोक का जीवनक्रम किस प्रकार का है? प्लेन्चेट की पेंसिल ने उत्तर लिखा कि मैं तुम्हें बिलकुल नहीं बताऊँगा। भला, जिसे जानने के लिये मुझे स्वतः मरना पड़ा, वह मैं तुमको मुफ्त में कैसे बतला सकता हूं?"

मुझे प्रसन्न करने के लिये कैलाश एक हलके दर्जे का गाना जोर-जोर से गाया करता था। यह गाना उसी ने बनाया था। इस कविता का नायक मैं था और नायिका के आगमन की आशा बड़ी सुन्दरता से प्रकट की गई थी। कविता में उस नायिका का मोहक चित्र भी खींचा गया था। भविष्यकाल के

देदीप्यमान सिंहासन पर विराजमान होकर उस सिंहासन को सुशोभित करनेवाली उस जगन्मोहिनी कुमारी का वर्णन सुनकर मेरा चित्त उस ओर आकर्षित हो जाया करता था। उसमें नायिका के सिर से पैर तक के रत्नखचित आभूषणों की ओर मेरे विवाहोत्सव की तैयारी की अपूर्व शोभा का जो वर्णन था, उससे मेरी अपेक्षा अधिक वयवाले चतुर मनुष्य का मस्तिष्क भी घूम सकता था। परन्तु मेरे बालचित्त के आकर्षित होने और अन्तश्चक्षु के सम्मुख आनन्दजनक चित्रों के घूमने का कारण केवल उस कविता के यमकों का मधुर नाद और उसके ताल का आन्दोलन ही था। काव्यानन्द के यह दो प्रसङ्ग और 'पानी रिमझिम-रिमझिम पड़ता है, नदी में पूर आता है' इस प्रकार के बालकों को श्रेष्ठ प्रतीत होनेवाले बाल वाङ्मय के वाक्य आज भी स्मृति पटल पर घूम रहे हैं।

इसके बाद मुझे जो बात याद है वह मेरे पाठशाला जाने की बात है। मेरी बहिन का लड़का 'सत्य' मुझसे अवस्था में कुछ बड़ा था एक दिन मैंने अपने बड़े भाई को और उसे पाठशाला को जाते हुए देखा। मुझे पाठशाला में जानेयोग्य न समझकर वे दोनों चले गए। इसके पहले मैं कभी गाड़ी में नहीं बैठा था और न घर से बाहर ही गया था। इसलिये सत्य के घर में आने पर ख़ूब निमक-मिर्च लगाकर उसने रास्ते के अपने साहस के कृत्यों का वर्णन किया। वह सुनने पर मुझे अब अपना घर में रहना अशक्य मालूम होने लगा। मेरे पाठशाला जाने के भ्रम को दूर करने के लिये मेरे शिक्षक ने मुझे एक थप्पड़ मारकर कहा कि अभी तो पाठशाला जाने के लिये रोता है, परन्तु फिर पाठशाला से छूटने के लिये इससे भी ज्यादा रोएगा। इस [illegible] का नाम, पता अथवा [illegible] का मुझे कुछ भी स्मरण [illegible]

परन्तु उसका जोरदार उपदेश और उससे भी ज्यादा जोरदार थप्पड़ मुझे आज तक याद है। शिक्षक ने जो भविष्य कहा वह जितना ठीक उतरा, उतना ठीक भविष्य मेरे जीवन में दूसरा कोई भी नहीं उतरा।

मेरे रोने का यह परिणाम हुआ कि मुझे बहुत ही छोटी अवस्था में पौर्वात्य विद्यालय (oriental Siminary) में जाना पड़ा। वहाँ मैंने क्या पढ़ा—इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है। परन्तु वहाँ बालकों को दंड देने की जो पद्धतियाँ थी, उनमें से एक अभी तक मेरे ध्यान में है। वह पद्धति यह थी कि जो बालक अपना पाठ नहीं सुना सकता था उसे हाथ फैलाकर बेंच पर खड़ा करते थे और उसकी हथेलियों पर पट्टियों का ढेर लगाते थे इस प्रकार के दंडों का उपयोग बालकों के मनकी ग्राहक शक्ति बढ़ाने में कहाँ तक होना सम्भव है? इसका विचार मानस-शास्त्री ही कर सकते हैं, यह मेरा विषय नहीं है। अस्तु इसप्रकार अति कोमल अवस्था में मेरा अभ्यास-क्रम शुरू हुआ।

उस समय नौकर लोगों में जो पुस्तकें प्रचलित थीं, उन के द्वारा मेरे वाङ्मय के अभ्यास का प्रारम्भ हुआ। उनमें चाणक्य के सूत्रों का बंगाली भाषान्तर और कृत्तिवास की रामायण ये दो पुस्तकें मुख्य थीं। रामायण बाँचने के एक प्रसंग का चित्र मुझे आज भी ज्यों का त्यों स्पष्ट दिखलाई देता है।

उस दिन आकाश मेघाच्छादित था। मार्ग के पास के बड़े बरामदे में मैं खेल रहा था। वहाँ मुझे किसी भी तरह डराने की सत्य को इच्छा हुई और पुलिस! पुलिस!! पुकारते वह मेरे पास में आया। उस समय पुलिस के कामों के सबंध में मेरी कल्पना अत्यन्त स्पष्ट थी। केवल एक बात पर मेरा वि

कि अपराधी बनकर किसी मनुष्य को पुलिस के सुपुर्द करने पर फिर उसका सत्यानाश हो जाता है जिस प्रकार मगर के जबड़ों में फँसे हुए दुर्दैवी मनुष्य की दशा होती है उसी प्रकार पुलिस के जाल में फँसे हुए की होती है। फौजदारी क़ायदे के चंगुल से किस प्रकार छुटकारा हो सकता है, भला इसे मेरे समान अज्ञान बालक कैसे जान सकता था। अतः पुलिस! पुलिस!! का शब्द सुनते ही मैं घर के भीतर भागा और माँ से अपने संकट की बात कही। परन्तु माता मेरे कहने से कुछ भी विचलित नहीं हुई ; वह पूर्णतया शान्त रही। इससे मुझे धीरज बंधा। तौभी मुझे बाहर जाने का साहस करना उचित नहीं मालूम हुआ। अतः माँ की मौसी के रंगे हुए पुट्ठे और मुड़े हुए पन्नों को रामायण की पुस्तक जो वहाँ ही रखी थी—लेकर मैं माता की कोठरी की देहरी पर बैठकर पढ़ने लगा। भीतर के चौक के चारों ओर बरामदा था। इस बरामदे के पास यह कोठरी थी। आकाश मेघाच्छादित था और तीसरे पहर का मन्द प्रकाश भी वहाँ पड़ रहा था। रामायण में एक दुःखप्रद प्रसंग का वर्णन मैं पढ़ने लगा। बाँचते-बाँचते मुझे रोना आ गया। माने यह देखकर वह पुस्तक मेरे हाथ से छीन ली।

———

७

हमारे बाल्यकाल के समय प्रायः बहुतेरों को शान-शौकत नहीं मालूम थी। आज की अपेक्षा उस समय का रहन-सहन प्रायः बहुत सादा था। शान-शौकत और ऐश-आराम का प्रश्न एक ओर रख देने पर भी आज जो बालकों की निरर्थक चिंता और देखभाल रखने की पद्धति प्रचलित है, उससे हमारे घर के बालक पूर्णतया अलिप्त थे। उन्हें इन बातों की गंध भी नहीं थी। वस्तुस्थिति इसप्रकार है कि बालकों की देखरेख रखने में पालकों को भले ही आनन्द मालूम हो, पर बालकों को तो उससे केवल पीड़ा ही होती है।

हमें नौकरों की सत्ता में रहना पड़ता था। अपना कष्ट बचाने के लिये उन लोगों ने हमारा नैसर्गिक स्वेच्छाचार का अधिकार प्रायः अपनी मुट्ठी में ले रखा था। दूसरी ओर निरर्थक लाड़ प्यार—बार-बार खाने, पीने, दिनभर कपड़ा पहनने-से हम मुक्त थे। इसप्रकार एक की कमी दूसरा पूरी करता था।

हमारे भोजन में प्रायः पक्वान्न बिलकुल नहीं होते थे और हमारे कपड़ों की सूची यदि देखी जाय तो आज-कल के लड़के नाक-भौंह सिकोड़े बिना न रहेंगे। दस वर्ष की वय होने के पहले किसी भी कारण से हमने मोजे और बूट नहीं पहिने। ठंड के दिनों में भी कमीज के ऊपर एक सूती कुरता पहन लिया कि बस हुआ और उससे हमें अपनी दीनता भी नहीं मालूम

होती थी। हाँ, हमारा वृद्ध दर्जी 'न्यामत' यदि बंडी में खीसा लगाने को भूल जाता था तो उससे हमारा मिजाज जरूर बिगड़ जाता था। खीसे में खूब भरने के लिये जिसे कोई चीज न मिली हो, इतना दरिद्री बालक आज तक एक भी उत्पन्न नहीं हुआ होगा। कृपालु ईश्वर का संकेत यही मालूम होता है कि धनिकों के बालकों और गरीब माता-पिता के बालकों की सम्पत्ति में बहुत ज्यादा अन्तर न रहे। हममें-से प्रत्येक बालक को 'चप्पल' की एक जोड़ी मिलती थी। परन्तु यह भरोसा नहीं था कि वह सदा पावों में ही रहेगी। क्योंकि हम उसे पावों से ऊपर फेंकते और फिर झेला करते थे। हमारे इस रिवाज से चप्पलों का वास्तविक उपयोग यद्यपि नहीं होता था, तो भी उन्हें कम काम नहीं पड़ता था।

पहिनावा, खाना-पीना, रहन-सहन, व्यवसाय, संभाषण और विनोद में हमारे वृद्ध पुरुषों में और हममें आकाश-पाताल का अन्तर रहता था। बीच-बीच में उनके काम हमारे को दिखलाई पड़ जाते थे। परन्तु वे हमारी शक्ति के बाहर होते थे। आज कल के बालकों के लिये तो उनके माता-पिता आदि बड़ी 'सहज प्राप्य वस्तु' सी हो गए हैं और उन्हें उनका समागम चाहे जब मिल सकता है। किंबहुना यह कहना भी उचित होगा कि आज-कल बालकों को मनचाही चीज सुलभ होती है। परन्तु हमारे जमाने में कोई भी वस्तु इतनी सुलभ नहीं थी। तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु भी हमारे लिये कठिन थी। हमलोग इसी आशा से अपने दिन निकालते थे, कि बड़े होने पर हमें ये सब मिलेंगी। विश्वास था कि भविष्यकाल इन सब वस्तुओं को हमारे लिये बहुत संभाल कर रखेगा। इसका परिणाम यह होता था कि हमें जो कुछ भी मिलता था वह चाहे थोड़ा ही क्यों न हो, उसका हम

खूब उपयोग करते थे और उसका कोई भी हिस्सा यों ही नहीं जाने देते थे। आज-कल जो कुटुम्ब खाने-पीने से सुखी हैं उनके लड़कों को देखो तो मालूम होगा कि जो वस्तुएँ उन्हें मिलती हैं उनमें से आधी वस्तुएँ तो वे केवल निरर्थक ही खो देते हैं। और इस तरह उनकी सम्पत्ति के बहुत बड़े भाग का होना न होना समान हो जाता है।

बाहर की दालान के आग्नेय कोण में नौकरों के लिये जगह थी। हमारा बहुत-सा समय उसी जगह बीतता था। हमारा एक नौकर शरीर से भरा हुआ, काले रंग का था और लड़के के जैसा था। इसका नाम 'श्याम' था। इसके बाल घूँघरवाले थे। यह खुलना जिले का रहनेवाला था। यह एक स्थान नियत कर वहाँ मुझे बैठा देता था और मेरे आस-पास खड़िया से रेखा खींच कर बड़े गम्भीर स्वर से उँगली दिखाकर धमकाता था कि खबरदार इस लकीर के बाहर मत जाना। मैं अच्छी तरह यह कभी न समझ पाया कि मेरा यह संकट ऐहिक है या पारमार्थिक। मुझे इसका डर बहुत ज्यादा लगता था। लक्ष्मण की खींची हुई रेखा के बाहर जाने से सीता को जो संकट भोगना पड़ा, वह मैंने रामायण में बाँचा था। इस कारण 'श्याम' की खींची हुई रेखा के सम्बन्ध में भी मुझे किसी तरह की शंका भला कैसे हो सकती थी?

नौकरों की इस कोठरी की खिड़की के नीचे पानी का हौज था। जिसमें पानी की सतह तक पत्थर की सीढ़ियाँ लगी हुई थीं। इसके पश्चिम की ओर बाग की दीवार के पास एक प्रकाण्ड वटवृक्ष था। और दक्षिण की ओर नारियल के वृक्षों की पंक्ति खड़ी थी। मेरे लिये नियत की हुई जगह इसी खिड़की के पास होने से मैं खिड़की में-से उस दृश्य को एक चित्रों की पुस्तक के

समान दिन भर देखा करता था। हमारे अड़ोसी-पड़ोसी सुबह होते ही वहाँ स्नान करने को आया करते थे। प्रत्येक के आने का वक्त मुझे मालूम था। और प्रत्येक के पहिनाव उढ़ाव का ढंग भी मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया था। कोई तो वहाँ आकर और कानों में उँगली डालकर गोता लगाता और किसी को पानी में मस्तक डुबोने तक का साहस ही न होता था। इसलिये वह अपना अंगोछा पानी में भिगोकर उससे अपने शरीर को पोंछकर ही स्नान की क्रिया पूरी कर लेता था। कोई आता तो पानी पर लेटने लगता और कोई पानी की सीढ़ी पर से ही पानी में कूँद पड़ता था एक स्तोत्र पढ़ता हुआ आता और धीरे-धीरे एक सीढ़ी नीचे उतरता। दूसरा सदा शीघ्रता में रहता था, आया गोता मारा, कपड़े पहिने और घरका रास्ता लिया तीसरा एक ऐसा मनुष्य वहाँ आता था जिसे जल्दी करना शायद मालूम ही नहीं था। धीरे-धीरे आप आते, अंग को, खूब रगड़-रगड़ कर साफ़ करते और फिर स्नान कर साफ़ वस्त्र और वह भी बहुत ठहर-ठहर कर पहिनते थे। फिर धोती वगैरह खूब पछाड़ते और बड़ी चतुराई से उसकी घड़ी कर आप बगीचे में आते, वहीं कुछ देर टहलते और फूलों को बीनते थे और बड़ी स्वच्छता और स्फूर्ति के साथ आप घर जाते थे। दोपहर तक यही झगड़ा चला करता था। दोपहर के बाद उस स्थान पर शांति फैल जाती और केवल बत्तखें वहाँ तैरा करतीं और अपनी चोंचों से पंखों को साफ़ करती थीं तथा गोकुल गायों का पीछा करती थीं।

इसप्रकार जब पानी पर स्तब्धता फैल जाती थी, तब मेरा ध्यान उस प्रचण्ड वट वृक्ष के नीचे की छाया की ओर लगता था। इस वृक्ष की लटकती हुई लम्बी-लम्बी शाखाएँ वृक्ष के तने से इसप्रकार लिपट गई थीं कि उनका जाल-सा बन गया था।

उस गूढ़ प्रदेश में मानों सृष्टि-नियम का प्रवेश ही नहीं हुआ था और यह मालूम होता था कि मानो पुरातन काल के स्वप्न के समान स्पष्ट मालूम होनेवाली भूमि विधाता की दृष्टि चुराकर आधुनिक काल के प्रकाश में यहाँ टिकी हुई है। वहाँ मुझे कौन कौन क्या क्या करते हुए दीखते थे, इसका वर्णन संक्षेप में करना अशक्य है। आगे जाकर मैंने इसी वट वृक्ष पर एक कविता भी की थी।

हाय ! अब वह वट वृक्ष कहाँ है ? अब वट-वृक्ष भी नहीं है और न उस वनराजी को प्रतिबिंबित करनेवाला वह जलाशय ही है। वट वृक्ष की छाया के समान वहाँ स्नान करनेवाले बहुत से मनुष्य लय हो चुके हैं और वह बालक (रवीन्द्र बाबू) अब बड़ा होकर निज के विस्तार द्वारा प्रसरित उन भूलों के जाल में-से दिखनेवाली प्रकाश-छाया के परिवर्तनों की गणना कर रहा है।

घर से बाहर जाने की हमें मनाही थी। यहाँ तक कि घर में भी चारों ओर फिरने की हमें आज्ञा नहीं थी। इस तरह के बन्धनों में से ही हमें सृष्टि सौंदर्य का दर्शन करना पड़ता था। बाह्य-सृष्टि रूप अमर्यादित वस्तु, मेरे सामर्थ्य के बाहर की बात थी। उसकी ध्वनि तथा उसकी परिमल मेरे बन्धन के छिद्रों में-से क्षण भर के लिये मेरे पास आती और मुझसे भेंटकर चली जाती थी। मुझे मालूम होता था कि मानों वह अनेक चेष्टाएँ करके मेरे बन्धन के सींकचों में-से मुझसे खेलने की इच्छा करती है। परन्तु वह बाह्य सृष्टि स्वतन्त्र थी और मैं बन्धन में था। एक दूसरे से मिलने का हमें कोई मार्ग ही नहीं था और इस कारण मुझे उसका मोह भी अधिक होता था। परन्तु इसका उपयोग ही क्या ? आज यद्यपि 'खाम' के द्वारा खींची हुई

वह खड़ी की रेखा पुंछ गई है, तो भी मर्यादा रचनेवाले मंडल आज ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। दूरस्थ वस्तु आज उतनी ही दूर है, बाह्यसृष्टि आज मेरी सामर्थ्य से अतीत है। इस सम्बन्ध में बड़े हो जाने पर मैंने जो कविता रची थी वह मुझे इस समय भी याद है।

हमारी गच्ची का कठड़ा मेरे सिर से भी ऊँचा था। कुछ वर्षों बाद मैं भी ऊँचा हो गया। अब नौकरों का अत्याचार शिथिल हुआ। घर में एक नव परिणीत बधू आई, जिससे अवकाश के समय साक्षी के नाते चार बातें करने का महत्व मुझे प्राप्त हुआ। इन दिनों दुपहरी के समय मैं कभी-कभी गच्ची पर जाया करता था। उस समय घर के सब लोग भोजन कर चुकते थे। सब लोगों को घरू काम से अवकाश मिल जाता था। अन्तःपुर में इस समय सब लोगों के लेटने का समय होने से शान्ति रहती थी। कठड़े पर वस्त्र सूखने को लटका दिए जाते थे। आँगन के एक कोने में पड़ी हुई जूठन पर कौए टूटते रहते थे, इस शान्त समय में पिंजरे के पत्ती कठड़े को संधि में-से स्वतन्त्र पक्षियों के साथ चोंच-से चोंच लगाकर अपने मन की बातें किया करते थे।

जब मैं वहाँ खड़ा होकर इधर-उधर देखने लगता, तब पहले अपने घर के बाग के उस कोने पर की नारियल की वृक्षावली पर मेरी दृष्टि पड़ती थी। इस वृक्षावली में-से 'बाग' व उसमें बने हुए झोंपड़े व हौज के पासवाला हमारी 'तारा' ग्वालिन का घर दिखलाई पड़ता था। इस दृश्य की उस ओर कलकत्ता नगर के भिन्न-भिन्न ऊँचाई तथा आकार के गच्चीवाले घर भी दिखलाई पड़ते थे। जिनके बीच-बीच में सिर उठाए हुए वृक्षों की शिखरें पूर्व क्षितिज के कुछ नीले और कुछ भूरे रंग में बिलीन

होती हुई भी दीखती थीं। उनपर दुपहरी की धूप का उज्ज्वल प्रकाश भी पड़ता और उससे कुछ उनका रङ्ग भी बदलता दिखलाई पड़ता था। उन अति दूरस्थ घरों के आगे की गलियों पर ऊपर से ढके हुए ज़ीने ऐसे मालूम होते थे, मानों वे घर मुझे अपनी तर्जनी उँगली दिखलाकर आँखें मिचकाते हुए अन्तर्भाग के रहस्य की सूचना दे रहे हों।

जिस तरह एक भिखारी राजभवन के सम्मुख खड़ा होकर यह कल्पना करता है कि इस महल के भण्डार गृह में कुबेर की सम्पत्ति संचित और सुरक्षित है, उसी प्रकार इन अज्ञात भवनों में मुझे, जो स्वातन्त्र्य और लीला की सम्पत्ति भरी हुई मालूम होती थी, उसकी कल्पना भी मैं न करता था। इस समय मस्तक पर सूर्य के तपते रहने पर भी आकाश में खूब ऊँचाई पर चीलें उड़ा करती थीं, जिनकी कर्ण कठोर किलकारी मेरे कानों के पर्दों को हिला देती थी। बाग से लगी हुई गली में-से धीमी और शान्त घरों के आगे से फेरी लगानेवाले 'मनिहार' की 'चूड़ियाँ लो चूड़ियाँ' की दुपहरी की निद्रा भङ्ग करनेवाली आवाजें भी मुझे सुनाई देती थीं। इन सब बातों से मेरी आत्मा नीरस जगत से दूर उड़ जाती थी।

मेरे पिता घर पर बहुत कम कभी-कभी रहते थे। वे सदा प्रवास ही करते थे। तीसरी मंजिल पर उनके सोने बैठने के कमरे थे। मैं ऊपर जाकर खिड़कियों की झंझरी में-से हाथ डालकर दरवाजे की सिटकनी खोल लेता था और दक्षिण कोने पर उनकी जो कोच पड़ी हुई थी उसपर शाम तक पड़ा रहता था। बन्द कमरे के बन्द रहने व उसमें मेरे छिपकर प्रवेश करने से उसकी गुरुता की छटा विशेष मालूम होती थी। दक्षिण की ओर की

चौड़ी और शून्य गली को सूर्य-किरणों से तप्त होती हुई देखते हुए मैं अपने मनोराज्य में मग्न होकर वहाँ बैठा रहता था।

इसके सिवाय मन को आकर्षित करनेवाली और भी एक बात थी। वह यह थी कि उन दिनों कलकत्ते में पानी के नल कुछ दिनों से ही शुरू हुए थे और नल के प्रथम आगमन के प्रसङ्ग पर अधिकारियों को जो विजयानन्द प्राप्त होता था—उस कारण इन्होंने पानी की इतनी रेल-पेल कर दी थी कि हिन्दू लोगों की बस्ती में भी पानी की कमी नहीं रही था। नल के उस प्रथम शुभागमन में पानी मेरे पिता के उक्त कमरे तक ऊपर पहुँचता था। इसलिये चाहे जब फौव्वारे की टोंटी खोलकर चाहे जब तक नीचे मैं खड़ा रहता था। यह सब मैं उससे होनेवाले सुख के लिये नहीं करता था, किन्तु केवल कल्पना के अनुसार मेरी इच्छा का स्वतः सञ्चार करने देने के लिये करता था। उस समय पहले क्षण में तो स्वातन्त्र्य-सुख प्राप्त होता था, पर साथ ही दूसरे ही क्षण में यह भय उत्पन्न हो जाता था कि यदि कोई देख लेगा तो क्या होगा ? इन दोनों कारणों से उस फौव्वारे के पानी द्वारा मेरे शरीर में आनन्द के रोमांच खड़े हो जाया करते थे। बाह्य सृष्टि से सम्बन्ध होने की सम्भावना बहुत कम होने के कारण ही इन कार्यों से सम्बन्ध होता था और इसलिये उक्त कार्यों म होनेवाले आनन्द का वेग भी तीव्र होता था। साधन सामग्री जब भरपूर होती है, तब मन को मन्दता प्राप्त होती है। मन यह भूल जाता है कि आनन्द का पूर्ण उपभोग प्राप्त होने के कार्य में बाह्य-सामग्री की अपेक्षा अन्तर्गत सामग्री का ही महत्व विशेष होता है और मनुष्य को बाल्यावस्था में मुख्यतया उसे यही पाठ सिखाना होता है। बाल्यावस्था में उस स्वामित्व की वस्तुएँ थोड़ी और तुच्छ होती हैं, तो

के अर्थ उसे अधिक वस्तुओं की जरूरत नहीं मालूम होती। जो दुर्दैवी बालक खेलने की असंख्य वस्तुओं के भार से दब जाता है, उसे उन वस्तुओं से कुछ भी सुख प्राप्त नहीं होता।

हमारे घर के भीतर के बाग को बाग कहना अतिशयोक्ति होगा। क्योंकि उसमें केवल एक रेंड़ का पेड़, मुनक्का (अंगूर) की दो जातियों की दो बेलें और नारियल के पेड़ों की एक पंक्ति भी थी। बीच में वर्तुलाकार (गोल) फर्शी जड़ी हुई थी, जिसमें जगह-ब-जगह दरारें भी पड़ गई थीं, घास व छोटे-छोटे पौधे भी उग आए थे, जो चारों तरफ फैल गए थे और फूलों के पेड़ उसमें वही बचे थे, जिन्होंने मानो यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि कुछ भी हो जाय, हम नहीं मरेंगे। वे अपना कर्तव्य इतनी तत्परता से पालन करते थे कि माली पर उनकी चिन्ता न करने के अपराध का आरोप करने का मौका ही नहीं मिलता था। इस बाग के उत्तर कोने में धान काटने के लिए एक छप्पर था। इस जगह आवश्यकता पड़ने पर अन्तःपुर के मनुष्य एकत्रित होते थे। ग्रामीण रहन सहन का यह अन्तिम अवशेष भाग आजकल पराजित होकर लज्जा से किसी को मालूम न होते हुए ही नष्ट हो गया है।

यद्यपि मेरे बाग की यह दशा थी, तो भी मुझे यह मालूम होता था कि 'ईडन' का नन्दनवन भी हमारे बाग की अपेक्षा अधिक सुशोभित नहीं होगा। क्योंकि 'ईडन' और उसके बाग दोनों ही दिगम्बर थे। उन्हें बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं थी। ज्ञानवृक्ष का फल खाने के बाद ही मानव जाति के बाह्य आवरणों और भूषणों की वृद्धि होती है और यह वृद्धि ज्ञानफल के पूर्णतया पच जाने तक ही होती रहेगी। हमारे इस घर भीतर का बाग मेरा नन्दन वन ही था और वह मेरे आवक

ठीक भी था। वर्षा ऋतु में सुबह के समय जागते ही इस बाग की ओर मैं किस प्रकार भागता था यह मुझे आज भी स्मरण है। मैं इधर से दौड़ता जाता था और इधर से ओस की घंटी से सुशोभित घास व पत्तों का परिमल मुझसे भेंट करने को आता था। इस समय नारियल के वृक्षों की हँसनेवाली छाया के नीचे से और पूर्व के ओर की बाग की दीवार पर से ऊषा देवी नूतन व शीतल किरणों के साथ मेरी ओर उझक-उझक कर देखती थीं।

हमारे घर के उत्तर की ओर एक मैदान है। उसे हम आज भी गोलाबरी (कोठार) कहते हैं। इस नाम से यह मालूम होता है कि वहाँ बहुत दिनों पहिले धान्य का कोठार रहा होगा, जिसमें साल भर के लायक धान्य का संग्रह किया जाता होगा। जिसप्रकार बाल्यावस्था में बहिन भाई में बहुत कुछ समानता रहती है, उसी प्रकार उस समय शहर और ग्राम की रहन-सहन में भी बहुत-कुछ समानता दिखलाई पड़ती थी। आजकल तो उस समानता का लेश भी नहीं दीखता। मुझे अवसर मिलने पर व छुट्टी के दिनों में गोलाबरी मेरा निवासस्थान ही बन जाता था। यह कहना भ्रमपूर्ण होगा कि मैं वहाँ केवल खेलने को जाता था। क्योंकि मुझे वह स्थान ही आकर्षित करता था, खेल नहीं। उससे मैं क्यों आकर्षित होता था, यह कहना अशक्य है। शायद उस कोठार के एक कोने में गीली जमीन होने के कारण वहाँ जाने का मुझे मोह होता होगा। वह स्थान बस्ती से बिलकुल अलग था और उपयुक्तता की छाप भी उसपर लगी हुई न थी। यह स्थान निरुपयोगी था। फल-फूल के पेड़ लगाकर किसी ने उस स्थान को सुशोभित भी नहीं किया था। इसी कारण उस स्थान की भयानकता से मेरी कल्पना को

सञ्चार में कभी विघ्न नहीं पड़ा। मेरे पर देख-रेख रखनेवालों की नजर चुराकर जब मुझे उस स्थान पर जाने की संधि मिलती थी, तब मुझे छुट्टी मिलने के समान आनन्द होता था।

हमारे घर में और भी एक जगह थी। पर वह कहाँ थी, इसे ढूँढने में मुझे अभी तक सफलता नहीं मिली है। मेरी ही बराबरी की मेरे खेल की साथिन एक लड़की थी। वह उस जगह को राजवाड़ा कहती थी। वह कभी-कभी मुझसे कहा करती थी कि 'मैं अभी वहाँ से आ रही हूं।' पर मुझे वहाँ साथ ले जाने का सुप्रसंग उसे कभी नहीं मिला। वह एक अद्भुत जगह थी और वहाँ होनेवाले खेल-खिलौने आश्चर्यजनक थे। मुझे यह मालूम होता था कि वह स्थान कहीं समीप ही पहिली या दूसरी मंजिल पर ही—होना चाहिए और वहाँ जाने की किसी में सामर्थ्य भी नहीं है। "मैं अपनी साथिन से कई बार पूछता था कि वह स्थान घर के भीतर है या बाहर? पर वह सदा यही उत्तर देती थी कि—"नहीं। नहीं!! वह घर में ही है।" इस उत्तर से मैं विचार करता था कि वह स्थान कहाँ होगा? क्या ऐसा भी कोई घर में स्थान या कमरा है, जिसे मैं नहीं जानता? इस राजवाड़े का राजा कौन था—इसकी तलाश मैंने कभी नहीं की। यद्यपि वह राजगृह कहाँ था—यह मुझे अभी तक नहीं मालूम हुआ। तो भी वह हमारे घर में ही था, यह बात सत्य है। बाल्यावस्था की आयुष्य की ओर दृष्टि फेंककर यह जीवन और जगत् में जो गूढ़ तत्त्व भरे हुए हैं, उनका ही विचार मुझे बारम्बार होता है। उस राजवाड़े के मामले मुझे यह भी मालूम होता कि जगत में एक ऐसी वस्तु या स्थान पर स्थान है, जिसका स्वप्न में भी हमें दर्शन नहीं हुआ है और प्रतिदिन हमें वहाँ का अधिक सहज था। मालूम होता है कि वह वस्तु

हमें कब मिलेगी ? मानो सृष्टि देवता अपनी मुट्ठी को बन्द कर हमसे सहर्ष मुद्रा से पूछते हैं कि बताओ मेरी मुट्ठी में क्या है? और हमें इसकी कल्पना भी नहीं होती कि ऐसी कौनसी वस्तु है, जो इसके पास नहीं होगी ?

दक्षिण के बरामदे के कोने में मैंने सीताफल का बीज बोया था। इसे मैं रोज पानी भी देता था, यह बात मुझे बड़ी अच्छी तरह याद है। 'इस बीज से झाड़ उगेगा या नहीं', इस बात पर मेरा कौतूहल पूर्वक ध्यान लगा रहता था। आज भी सीताफल के बीज में अंकुर फूटते हैं, परन्तु वह कौतूहल मात्र अब नहीं है। यह दोष सीताफल का नहीं है, किन्तु हमारे मन का है। अपने चचेरे भाई के पत्थरों के ढेर में-से उन्हें न मालूम होते हुए मैं कुछ पत्थर उठा लाया था और उनकी एक छोटी-सी टेकरी बना ली थी। उन पत्थरों की संधियों में कुछ पौदे भी लगाए थे उनकी मैंने इतनी देख-रेख रखी थी कि जिससे वे असमय में ही गत प्राण होने से बच सकें। पत्थरों के इस छोटे ढेर से मुझे इतना आनन्द होता था कि उसका शब्दों से वर्णन करना कठिन है। मुझे इसमें बिलकुल सन्देह नहीं था कि मेरी उत्पन्न की हुई यह सृष्टि हमारे बड़े बूढ़ों को भी चकित कर देगी। मेरे इस विश्वास की प्रतीति के लिये जो दिन मैंने नियत किया था, उसी दिन मेरी कोठरी के कोने में बनी हुई यह छोटी-सी टेकरी उसके पत्थर और पौदे एकदम नष्ट हो गए। पढ़ने की कोठरी की जमीन पर्वत स्थापना करने के योग्य स्थान नहीं है—इसकी जानकारी हमारे बड़े बूढ़ों ने मुझे इतनी कठोरता और शीघ्रता से कराई कि उस टेकरी को नाम शेष कर देने से हृदय को एक बहुत भारी धक्का बैठा। यद्यपि पत्थरों के भार से जमीन मुक्त हो गई; परन्तु उस भार से मेरा मन दुखा हुआ और

तब मुझे अच्छी तरह विदित हुआ कि हमारी स्वतः स्फूर्ति और बड़ों की इच्छा में कितना भारी अन्तर है।

सृष्टि का जीवन बस हमारे मन को भर्रा दिया करता था जमीन, पानी, हरियाली, आकाश—ये सब वस्तुएँ हमसे सम्भाषण करती थीं। इनकी ओर हम दुर्लक्ष नहीं कर सकते थे। इस सम्बन्ध में कितनी ही बार तीव्र दुःख हुआ होगा कि हमें पृथ्वी का ऊपरी भाग तो दिखता है, परन्तु अंदरूनी भाग का कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता। पृथ्वी के धूल धूसरित आच्छादन के भीतर हम अपनी दृष्टि किस प्रकार पहुँचा सकेंगे, इसका विचार मन में सदा हुआ करता था और कभी-कभी यह विचार उत्पन्न भी होता था कि यदि पृथ्वी के भीतर एक के बाद एक बाँस डाले जांय तो शायद अप्रत्यक्ष रीति से हम उसके अन्तर्भाग का स्पर्श कर सकेंगे।

माघोत्सव में दीपमालिका के लिये आँगन के बाहर लकड़ी के खंभों की पंक्ति लगाई जाती थी। इन्हें लगाने के लिये माघ शुद्ध प्रतिपदा से गड्ढे खोदने का काम प्रारम्भ होता था। किसी भी उत्सव की तैयारी में बालकों का विशेष आनन्द होता ही है। परन्तु मेरा ध्यान इन प्रतिवर्ष खुदनेवाले गड्ढों की ओर विशेष जाता था। यह काम मैं प्रतिवर्ष होता हुआ देखता था। कोई-कोई बार खोदते खोदते गड्ढा इतना गहरा होता हुआ दिखलाई पड़ता था कि उसमें खोदनेवाले भी अदृश्य हो जाते थे। इनमें कोई वस्तु मुझे ऐसी नहीं दीखती जो राजपुत्र अथवा किसी साहसी वीर के ढूँढने योग्य हो। तो भी प्रत्येक बार मुझे यही मालूम होता था कि खजाने की पेटी का ढक्कन खोला जा रहा है और मन में यह आता था कि यदि थोड़ा और खुदे तो खजाना अवश्य मिलेगा। इसी वर्षों पर वर्ष बीत गए, पर कभि-

गहरे खुदने का काम पूरा नहीं हुआ। पर्दे पर धक्का मारा जाता था, परन्तु वह हटता नहीं था। हमें आश्चर्य होता था कि हमारे बुजुर्ग जो चाहे सो कर सकते हैं, फिर वे इतना थोड़ा खोदकर ही क्यों रह जाते हैं? हम छोटे बालकों के हाथ में यदि यह बात होती तो पृथ्वी के गर्भ की गूढ़ता हम कभी धूल के नीचे दबी हुई नहीं रहने देते।

हमारी कल्पना को इस विचार से ही स्फूर्ति मिलती थी कि आकाश के प्रत्येक प्रदेश के पीछे उसकी गूढ़ता छिपी हुई है। बंगाली शास्त्रीय प्राथमिक पुस्तक के एक पाठ का विवरण करते हुए हमारे पंडितजी ने जब हमसे कहा कि आकाश में दिखलाई पड़नेवाली यह नीलिमा कोई वेष्ठन नहीं है, तब हमें बहुत भारी आश्चर्य हुआ। उसके बाद फिर पंडितजी ने कहा कि कितनी ही नसैनियाँ लगाने और उनपर चढ़ने से आकाश में कभी कोई वस्तु सिर से नहीं टकरायगी। तब मैंने मन में सोचा कि वहाँ तक पूरी नसैनियाँ शायद ये नहीं लगा सकते होंगे। इसी से जरा उपेक्षा की दृष्टि से पूछा "यदि एक पर एक असंख्य नसैनियाँ लगाई जाँय तो क्या होगा?" परन्तु जब मुझे यह कहा गया कि उनका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकेगा, तब मैं विचार करते हुए चुप हो गया और अन्त में मैंने यही निश्चय किया कि जो सम्पूर्ण जगत् का शिक्षक होगा उसे ही यह आश्चर्य कारक रहस्य मालूम होगा।

३

नौकरों का साम्राज्य

जिस प्रकार हिन्दुस्तान के इतिहास में गुलाम घराने का शासन सुखावह नहीं था, उसी प्रकार मेरे आयुष्य के इतिहास में भी नौकरों के शासन का काल भी विशेष आनन्द अथवा वैभव में व्यतीत नहीं हुआ। यद्यपि हमारे राजाओं के यहां नौकरों की बार-बार बदली होती थी, परन्तु हमें सन्तापवाली दण्ड विधि में कभी भी फर्क नहीं पड़ता था। इस विषय के सत्य शोधन का उन दिनों हमें अवसर ही नहीं मिला। हमारे पीठ पर पड़े हुए धौल को हम जहाँ तक हो सकता सहन करते और यह समझकर अपने आप समाधान भी कर लेते थे कि जगत का नियम ही है कि बड़ा आदमी दुःख दे और छोटा सहन करे। इस नियम के हम अपवाद नहीं थे। परन्तु इस नियम के विरुद्ध यह सत्य सीखने में मुझे बहुत दिन लगे कि दुःख सहन करनेवाले बड़े और दुःख देनेवाले छोटे होते हैं।

शिकारी और शिकार, इन दोनों की दृष्टि नीति के सार टटोलने में सदा परस्पर विरुद्ध होती है। एक चालाक पक्षी का बंदूक छूटने के पहिले ही खिड़की छोड़कर उड़ जाना और अपने साथियों को सचेत कर देना शिकारी की दृष्टि में नालायकी या बदमाशी का चिह्न है। इसी तरह हमें जब मार पड़ती

तब हम भी चिल्लाते थे और हमारे इस व्यवहार को दण्ड देनेवाले नौकर अच्छा नहीं समझते थे, किन्तु इसे वे अपने राज्य के विरुद्ध राजविद्रोह मानते थे। इसप्रकार के राजद्रोह को नष्ट करने के लिये हमलोगों के सिर पानी से भरी हुई नाँदों में किस प्रकार डुबाए जाते थे, वह मैं कभी नहीं भूलूँगा। दण्ड दाताओं को हमारा रोना कभी अच्छा नहीं लगता था, उनके इस प्रकार के दण्ड-विधान से कभी कुछ भयानक परिणाम निकलने की भी सम्भावना रहती, तो भी नौकर लोग इसप्रकार की कठोरता निष्ठुरता क्यों करते हैं? इसका मुझे अब भी कभी कभी आश्चर्य होता है। हमें अपने निज के व्यवहार में ऐसी कोई खटकने योग्य बात नहीं मालूम देती थी, जिससे हम मानवीय दया से वंचित रखे जाँय। तो फिर इस व्यवहार का कारण क्या? इसका उत्तर मुझे यही मालूम होता है कि हमारा सब भार नौकर लोगों पर था और यह भार इस प्रकार का होता है कि उसे घर के लोगों को भी सहन करना कठिन हो जाता है। बालकों को बालकों के ही समान यदि अल्हड़ रहने दिया जाय और उन्हें भागने, दौड़ने, खेलने व जिज्ञासा तृप्त करने की स्वतन्त्रता दे दी जाय, तो उन्हें सम्भालना बहुत सरल हो जाता है। परन्तु यदि उन्हें घर में दबाकर रखा जाय, तो एक विकट प्रसङ्ग खड़ा हो जाता है बालकों की अल्हड़ वृत्ति से जो भार हलका हो जाता है वही उन्हें दबाकर रखने से एक कहानी के घोड़े को—उसके निज के पांवों से न चलाकर उठाकर ले चलनेवाले भाड़ेतू भार-वाहक यद्यपि मिल गए थे, परन्तु पद-पद पर उन्हें वह भार क्या बिना खटके रहा होगा?"

हमारी बाल्यावस्था के इन जुल्मी लोगों के सम्बन्ध में मुझे केवल इतना ही स्मरण है कि ये लोग प्रायः आपस में लट्ठबाजी

करते रहते थे। इसके सिवाय और मुझे कुछ याद नहीं है हाँ, एक व्यक्ति की प्रमुखता से अब भी मुझे याद है।

इसका नाम ईश्वर था। पहिले वह एक गाँव में अध्यापक था। बड़ा ऐंठबाज साफ-सुफ, गंभीर मुद्रा का और अहंमन्य गृहस्थ था। इसकी यह समझ थी कि यह पृथ्वी केवल मृत्तिका मय है और इसे जल भी शुद्ध नहीं कर सकता। इसीलिये पृथ्वी की इस मृतिकामय स्थिति से उसका निरन्तर झगड़ा हुआ करता था। वह अपने बर्तन बड़े वेग से हौज़ में डाल देता था ताकि संसर्ग रहित गहरे पानी में से उसे पानी मिले। स्नान करते समय पानी के ऊपर का सब कचरा दूर कर एकदम वह डुबकी मारता था। रास्ते में चलते समय वह अपना दहिना हाथ शरीर से अलग रखकर चलता था। उससे हमें यह मालूम होता था कि मानों इसे अपने कपड़ों की स्वच्छता के सम्बन्ध में ही संशय हो। इसके व्यवहार से यह मालूम होता था कि पृथ्वी, जल, वायु और मानवीय रहन-सहन में अलक्षित भाव से घुसे हुए दोषों से भी यह अपने आपको अलिप्त रखने का प्रयत्न करता है। इसका गांभीर्य अगाध था। मस्तक को ज़रा तिरछा कर गंभीर स्वर से सँभालते-सँभालते चुने हुए शब्द यह बोलता था। इसके पीछे खड़े होकर सुनने से हमारे कुटुम्ब के वृद्ध पुरुषों को बड़ा आनन्द मिलता था। इसकी शब्दाडंबर-पूर्ण उक्तियों ने हमारे कुटुम्ब के मार्मिक भाषण के भांडार में सदा के लिये स्थान पा लिया था। इसके तैयार किये हुए शब्द-समूह आज के समय में उतने अच्छे मालूम होंगे या नहीं, इसकी मुझे शंका है और इसपर से यह दिखता है कि पहिले जो लिखने और पढ़ने की भाषा में ज़मीन आसमान का अन्तर

रहता था, वह अब दूर होता जा रहा है और एक दूसरे के पास आ रहा है।

पंडिताई का जाम किए हुए इस मनुष्य ने संध्या के समय हमें चुप बैठाने की एक युक्ति ढूँढ़ निकाली थी। वह रोज शाम को हमें अंडी के तेल की जली हुई बत्ती के आस-पास बिठाकर रामायण व महाभारत की कथा सुनाया करता था। उस समय दूसरे नौकर भी वहाँ आकर बैठते थे। छप्पर की मुंडेर पर उस बत्ती की बहुत बड़ी छाया फैल जाती थी और भीतर छिपकली छोटे छोटे कोड़े पकड़ा करती थीं और हम ध्यानपूर्वक कथा सुनते रहते थे।

एक दिन शाम को कुश और लव की कथा प्रारम्भ हुई। उस कथा में शूर बालकों द्वारा जब अपने पिता और काका के यश को तृण के समान समझने की धमकी देने का वर्णन आया तब इसके आगे क्या हुआ? यह जानने के लिए हम सब बालक उत्कंठित होने लगे। अतः आगे क्या हुआ—की आवाज से हमलोगों ने उस मद्दे प्रकाश वाली कोठरी की निस्तब्धता किस प्रकार भंग की, यह मुझे अच्छी तरह याद है। बहुत देर हो गई थी। हमारे सोने का समय प्रायः समीप था और कथा का अन्त बहुत दूर था। ऐसे प्रसङ्ग पर मेरे पिता का किशोरी नामक एक वृद्ध नौकर हमें लेने को वहां आ पहुँचा। अतः ईश्वर ने भी बड़ी शीघ्रता से यह कथा पूरी की। उस कविता की पंक्ति के चौदह पद थे और वह बहुत धीरे-धीरे पढ़ी जाने योग्य थी। परन्तु शीघ्रता से ईश्वर ने सब पढ़ डाली और हम लोग यम वक्र अनुप्रास के पूर में गोते खाते रहे।

इस कथा बांचने से कभी-कभी शास्त्रीय-चर्चा भी होती थी और उसका निर्णय ईश्वर की गम्भीरता और प्रचुर विद्वता के

द्वारा होता था। वह लड़कों का नौकर था। इसलिये उसका पद हमारे घर के लोगों में बहुत नीचा था। तो भी उसकी अपेक्षा वय और ज्ञान में कम योग्यता रखनेवालों पर उसका महाभारत के भीष्म के समान प्रभाव स्थापित हो जाता था।

हमारे इस गम्भीर और सम्माननीय नौकर में एक दोष था और इस दोष को ऐतिहासिक सत्यता के लिये उल्लेख करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं। वह अफ़ीम खाता था, इसलिये मिठाई खाने में इसकी लालसा बहुत रहती थी। इसका परिणाम यह होता था कि जब वह प्रतिदिन सुबह दूध का प्याला भर कर हमारे पास लाता था, तब उसके मन का और प्याले का झगड़ा बहुत होता था, और अन्त में प्रति सारण शक्ति को आकर्षण शक्ति के आगे पराजित होना पड़ता था। दूध पीने की हमें स्वतः ही अरुचि थी। यह अरुचि प्रकट करने की देर न होती कि तुरन्त वह प्याला हमारे आगे से दूर होकर 'ईश्वर' के पेट में पहुंच जाता था। यह कभी भी हमारे आरोग्य के लिए हितकारक बतला कर उस दूध को पीने के लिये हमसे दुबारा आग्रह तक नहीं करता था। पौष्टिक पदार्थ के पचाने की हमारी शक्ति के सम्बन्ध में भी 'ईश्वर' के कुछ संकुचित विचार थे। सन्ध्या को जब हम जीमने को बैठते तो गोल-गोल और मोटी-मोटी कड़ी पूरियाँ वह हमारी थालियों में परोसता था और कहीं पूरी छू न जाय इसलिये बहुत ऊँचे से वह प्रत्येक की थाली में एक-एक पूरी परोसना आरम्भ करता था। भक्त के बहुत हठ करने पर भी आराध्य देव के द्वारा बड़ी अप्रसन्नता से यह मिलन के समान एक-एक टुकड़ा हमारी थाली में डालता था। फिर वह हमसे पूछता था कि और भी कुछ चाहिए? हम यह अच्छी तरह समझते थे कि वह किस प्रकार से प्रसन्न होगा। इसलिये

उसमे यह कहने में कि 'और परोसा' मुझे अत्यन्त खेद हुआ करता था। दोपहर के फलाहार के लिये भी इसके पास दाम रख दिए थे। यह सुबह होते ही रोज हमसे पूछता कि तुम्हें आज क्या चाहिए? हमें यह मालूम था कि जितनी ही सस्ती चीज मंगावेंगे, उतना ही इसे आनन्द होगा। इसलिये चावल की लाई और कभी कठिनाई से पचनेवाले चने और मूमफली लाने के लिये हम इसे कहते थे। आँखों में तेल डालकर शास्त्र-विहित आचार का पालन करनेवाला ईश्वर, हमारे खाने-पीने के शिष्टाचार का पालन करने की विशेष चिन्ता नहीं करता था।

४

पाठशाला

जिस समय मैं 'ओरंटियल सेमिनरी' में था, मैंने 'पाठशाला में जानेवाला लड़का' इस तुच्छता-दर्शक सम्बोधन से छुटकारा करा लेने का एक मार्ग ढूँढ़ निकाला था। मैंने अपने बरामदे के एक कोने में अपनी पाठशाला खोल दी थी, जिसमें लकड़ी के गज मेरे विद्यार्थी थे। हाथ में छड़ी लेकर मैं उन गजों के सामने कुर्सी पर शिक्षक [illegible] जाता था। मैंने

निश्चित कर लिया था कि इन विद्यार्थियों में अच्छे और
विद्यार्थी कौन-कौन हैं ? इतना ही नहीं, मैंने यह भी तहग
था कि उनमें-से बदमाश, चतुर, सीधे, मूर्ख यद्यार्थी कौन
मैं उनमें से बदमाश विद्यार्थियों पर छड़ियों का इतना प्र
करता था कि यदि वे सजीव होते तो उन्हें अपना जीवन
हो जाता। मैं उन्हें जितना ही अधिक मारता था उतना ही
अधिक क्रोध आता था और मैं इतना चिढ़ जाता था कि
यह समझना कठिन हो जाता था कि मैं इन्हें किस प्र
दबाऊँ मैंने अपने उन मूक विद्यार्थियों पर कितना भारी
किया था, यह बतलाने के लिये उनमें-से अब कोई भी
बचा है। क्योंकि बरामदे में उन लकड़ी के छड़ों के स्थान
लोहे के छड़ लगा दिए गए हैं, इस नवीन पीढ़ी में-से किसी
पहले की शिक्षापद्धति के लाभ की संधि नहीं मिली है और
मेरे जैसा शिक्षक इन्हें मिला भी होता, तो इनपर इनके पूर्व
जैसा परिणाम भी नहीं हुआ होता।

मुझे उस समय इस बात का ज्ञान हो गया कि अपन
अपेक्षा नकल करना सुलभ होता है। क्योंकि मैंने अपने
में, सिखाने का हथकंडी के सिवा शिक्षकों के जल्दबाजी, चंच
ता, पंक्ति-प्रपंच, अन्याय आदि जो गुण मैंने अपने शिक्ष
में देखे थे—सहज रीति से पैदा कर लिए थे। मुझे अप
जानकर संतोष होता है कि मेरे में उस समय किसी मज
पर उक्त अज्ञानपूर्ण प्रयोग करने की शक्ति नहीं थी। मैं
विचार करता हूँ तो मालूम होता है कि प्राथमिक शाला
विद्यार्थियों और मेरे लकड़ी के गज रूपी विद्यार्थियों में अ
अवश्य था, पर इन दोनों के शिक्षकों के मानसशास्त्र में

अन्तर न था। दुर्गुणों की उत्पत्ति कितनी शीघ्रता से होती है इसका यह एक उत्तम उदाहरण है।

मुझे विश्वास है कि मैं 'आर्गटियल सेमिनरी' में बहुत दिनों तक नहीं पढ़ा, क्योंकि जब नार्मल स्कूल में जाने लगा था, तब भी मेरी अवस्था बहुत छोटी थी। वहाँ की मुझे एक ही बात याद है कि शाला लगने के पहले विद्यार्थी गैलरी में एक पंक्ति में बैठकर कुछ पद्य गाया करते थे। यह एक दैनिक कार्यक्रम से ऊबे हुए मन को ताजा करने का प्रयत्न था। बालकों के दुर्दैव से वे पद्य अंग्रेजी में थे और उनकी चाल (तर्ज) भी परदेशी ही था। इसलिये हमको इस बात की कल्पना ही नहीं होती थी कि हम क्या बोल रहे हैं। बिना समझे-बूझे एक मन्त्र के समान हम वे पद्य पढ़ा करते थे। बस में हमें यह क्रिया अर्थशून्य और उकता देनेवाली मालूम होती थी। इसप्रकार के कार्यक्रम की योजना विद्यार्थियों में उत्साह उत्पन्न करने के लिये ही की गई थी और शालाधिकारी समझते थे कि हमने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है। अब विद्यार्थियों का काम है कि वे इस कार्यक्रम से आनन्द और उत्साह प्राप्त करें। शालाधिकारी लोग अपने कर्तव्य की इस पूर्ति के कारण निश्चिंत थे और इसलिये उन्हें यह जानने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी कि हमारे कार्यक्रम का उद्देश प्रत्यक्ष व्यवहार में कितने अंशों में पूर्ण हो रहा है। शाला में अभ्यास शुरू होने के पहले इसप्रकार के गायन कराने का प्रस्ताव जिस अंग्रेजी पुस्तक में उन्होंने पढ़ा होगा, उसी पुस्तक से शायद पद्यों को भी ज्यों-के-त्यों शाला के अधिकारियों ने अपने यहाँ भी प्रचलित करके अपना पूरा कर लिया होगा। [illegible] होने के [illegible] पद्यों के शब्द ज्यों-के-त्यों वे [illegible] कठिन

Kallokee Pullokee Singill Mellalling Mellalling Mellalling.

बहुत विचार करने के बाद इस पंक्ति के एक भाग का मैं शुद्ध रूप मैं जान पाया हूं और Kallokee यह शब्द किस मूल शब्द का अपभ्रंश है, यह मैं अभी तक नहीं जान पाया। मेरा अनुमान है कि इस शब्द के सिवा बाकी के भाग का मूल रूप इसप्रकार का होगा—

Full of glee Singing merrily, merrily, merrily.

इस पाठशाला के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों मेरी स्मृति अधिक स्पष्ट होती जाती है, त्यों त्यों मुझे अधिकाधिक दुःख भी होता है; क्योंकि उस शाला में बिलकुल माधुर्य नहीं था। यदि मैं इस शाला के विद्यार्थियों में मिलजुल गया होता तो मुझे पढ़ना सीखने का दुःख इतना अधिक प्रतीत नहीं होता। परन्तु मेरे लिये यह अशक्य था। क्योंकि बहुत से विद्यार्थियों के चालचलन का ढंग और उनकी आदतें बहुत ही घृणित थीं। इसलिये क्लास में अवसर मिलते ही मैं दूसरे मञ्जिल पर जाकर एक खिड़की में बैठ जाता था, और अपना समय व्यतीत किया करता था तथा यह गिना करता था कि एक वर्ष हो गया, दो वर्ष व्यतीत हुए, तीन वर्ष हो गए। इस तरह गिनते-गिनते मुझे आप ही विचार होता था कि अब कितने वर्ष और व्यतीत करने पड़ेंगे तब आश्चर्य होता था।

शिक्षकों में-से मुझे सिर्फ एक ही शिक्षक की याद है। उसकी

मापा इतनी निंद्य थी कि मुझे उसमें घृणा हो जाती थी और इसलिये मैं उसके प्रश्नों का उत्तर देना सदा अस्वीकार ही कर देता था। इसप्रकार पूरा एक वर्ष मैंने अपनी. कक्षा में सबसे अन्त के नम्बर पर बैठकर निकाला था। मेरी कक्षा के अन्य विद्यार्थी पढ़ा करते थे और मैं चुपचाप बैठा अकेला न मालूम क्या क्या सोचा करता था। साथ में कुछ उलझन के प्रश्नों को हल भी करने का प्रयत्न किया करता था। ऐसे ही प्रश्नों में-से एक बार मेरे सामने यह प्रश्न भी आया कि "निःशस्त्र स्थिति में शत्रु का पराभव किस प्रकार करना चाहिए।" कक्षा के विद्यार्थी अपना पाठ पढ़ रहे हैं, हल्ला गुल्ला मचा हुआ है और मैं इस प्रकार के प्रश्न हल करने में लगा हुआ हूँ। उस समय की यह स्थिति आज भी मेरे नेत्रों के सामने खड़ी हो जाती है। यह प्रश्न मैंने इस प्रकार हल किया था कि बहुत से कुत्ते, सिंह आदि क्रूर पशु, योग्य शिक्षण देकर रणक्षेत्र में पंक्तिबद्ध खड़े किए जांय और फिर हम अपना पराक्रम दिखलाना प्रारम्भ करें। बस, फिर तुरन्त ही जय मिल जाने की सम्भावना है। आश्चर्य-जनक सहज रीति से यह उलझन सुलझाई जा सकती है। इस बात की कल्पना जब मेरे मन में आती, तब अपने पक्ष की जय प्राप्ति पर मुझे किंचित भी सन्देह नहीं रहता था। अब तक एक भी जवाबदारी का काम मेरे सिरपर नहीं पड़ा था, इसलिये ये सब बातें मुझे सूझती थीं। अब मुझे यह पक्का विश्वास हो गया है कि जवाबदारी जब तक नहीं आ पड़ती, तब तक सिद्धि प्राप्ति के लिये नजदीकी का मार्ग ढूँढ निकालना सहज है। परंतु जवाबदारी आ पड़ने पर जो कठिन है वह कठिन. और सदा कठिन रहेगा। यद्यपि यह ठीक है कि इसप्रकार का विश्वास कुछ अधिक आनन्दायक नहीं है पर सिद्धि प्राप्त करने का नजदीकी

मार्ग ढूँढ़ निकालना भी तो कम त्रासदायक नहीं है। राजम
छोड़कर अण्ड-बण्ड रास्ते चलने से यद्यपि चलना थोड़ा प
है, पर उस रास्ते में जो कांटे पत्थर आदि से सामना क
पड़ता है, उसका क्या उपाय ?

इसप्रकार उक्त कक्षा में एक वर्ष पूर्ण कर लेने पर पं
मधुसूदन वाचस्पति ने हमारी 'बंगाली' भाषा की परीक्षा ल
सम्पूर्ण कक्षा में मुझे सबसे अधिक नम्बर मिले। इसपर शि
ने शालाधिकारियों से यह शिकायत की कि मेरे सम्बन्ध
पक्षपात किया गया है। इसलिये शाला के व्यवस्थापक ने अ
सामने परीक्षक के द्वारा मेरी फिर परीक्षा ली और इस बार
मैं पहले नंबर में उत्तीर्ण हुआ।

५

काव्य-रचना

मेरी अवस्था आठ वर्षों से ही अधिक नहीं थी
[illegible] बुआ का एक 'ज्योति' नामक लड़का था। वह मेरी
अपेक्षा अवस्था में बहुत बड़ा था। अंग्रेजी साहित्य में उसका
अभी प्रवेश ही हुआ था। इसलिये वह हेम्लेट का स्वागत-भाषण
बड़े आविर्भाव से साथ बोला करता था। यद्यपि मेरी अवस्था
छोटी थी, तोभी ज्योति को यह विश्वास हो गया था कि मैं
अच्छी कविता कर सकूँगा। वास्तव में देखा जाय तो इसप्रकार

के विश्वास का कोई भी कारण नहीं था। एक दिन दोपहर के समय ज्योति ने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया और एक कविता की रचना करने के लिये कहा। साथ में चौदह अक्षरों के वृत्त की रचना भी उसने मुझे बता दी।

उस दिन तक छपी हुई पुस्तकों के सिवाय दूसरी जगह मैंने लिखी हुई कविता नहीं देखी थी। छपी हुई पुस्तकों की कविता में लिखने की भूल, काटा-पीटी, कुछ नहीं होती। कितना ही प्रयत्न करने पर भी इसप्रकार की कविता, मैं कर सकूँगा, इस बात की कल्पना करने की धृष्टता भी मुझसे नहीं हो सकती थी। एक दिन हमारे घर में एक चोर पकड़ा गया। उस समय चोर कैसा होता है ? यह देखने की मुझे बड़ी भारी जिज्ञासा थी। अतः जहाँ पर वह चोर रखा गया था मैं डरते-डरते वहाँ गया। मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह भी एक सामान्य मनुष्य जैसा मनुष्य है। उसमें और दूसरे मनुष्यों में कुछ भी अन्तर मुझे नहीं दिखलाई पड़ा। इसलिये दरवाजे पर के पहरेवालों को उसके साथ बुरा व्यवहार करते देखकर मुझे बड़ी दया आई। काव्य-रचना के सम्बन्ध में भी मुझे इसीप्रकार का अनुभव हुआ। पहले तो इस सम्बन्ध में मुझे बड़ा भय मालूम होता था। परन्तु ज्योति के कहने पर मैंने अपनी इच्छा के अनुसार कुछ शब्द एक स्थान पर एकत्रित किए। देखता हूँ तो पामर वृत्त, बाहरी पापर वृत्त जिसकी रचना के नियम ज्योति ने मुझे समझा दिए थे तैयारी हो गया है। अब तो काव्य-रचना में यश-प्राप्ति होने के सम्बन्ध में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा। जिस तरह पहरेदारों को चोर के साथ बुरा व्यवहार करते देख मुझे खेद हुआ था, उसी प्रकार अयोग्य लोगों के द्वारा देवता की विडम्बना होते देख मुझे आज भी बहुत खेद

होता है। देवता के प्रति होनेवाले व्यवहार को देखकर मुझे कई बार अनुकम्पा आई होगी, पर मैं कर ही क्या सकता हूं? आक्रमण करने के लिये अधीर होनेवाले हाथों को बलात् रोक रखने की शक्ति मेरे में कहाँ है? काव्य-देवता को आजतक जितने कष्ट सहन करने पड़े होंगे, उसे जितने हाथों ने कुरूप बनाने की चेष्टा की होगी, उतने कष्ट चोरों को भी नहीं उठाने पड़े होंगे और न उतने हाथों का उन्हें स्पर्श ही हुआ होगा।

पहले-पहल मालूम होनेवाला भय इसप्रकार नष्ट हो जाने पर काव्य-रचना के सम्बन्ध में मैं स्वतः सञ्चार करने लगा। मुझे रोकनेवाला भी कौन था? हमारी जमींदारी की व्यवस्था करनेवाले एक अधिकारी की कृपा से मैंने एक नीले कागज की कोरी किताब प्राप्त की और उसपर पेंसिल से लकीरें खींचकर छोटे लड़कों के लिखने के समान मैं कविता लिखने लगा। तुरन्त के निकले हुए छोटे-छोटे सींगों के बल इधर-उधर छलांगें मारनेवाले हिरण के बालक के समान मेरी नवीन उदय में आनेवाली काव्य-रचना का मेरे बड़े भाई को इतना अभिमान हुआ कि उसने उस रचना को एक जगह पड़े रहने नहीं दिया। सारे घर में उसके लिये हमें श्रोता ढूंढना पड़े। मुझे ऐसा याद है कि जमींदारी के अधिकारियों पर हम दोनों के विजय प्राप्त कर लेने पर जब हम जमींदारी के कार्यालय से बाहर निकले तो हमें रास्ते में नेशनल पेपर के सम्पादक नवगोपालमित्र आते हुए मिले। कुछ प्रस्तावना न करते हुए मेरे भाई ने उनसे कहा, देखो नवगोपाल बाबू हमारे रवि ने एक कविता की है। वह तुम्हें सुनना चाहिए। बस उत्तर का रास्ता कौन देखता है? तुरन्त ही मैं कविता पढ़ने लगा। मेरी काव्य-रचना इस समय प्रचण्ड नहीं हुई थी। वह बहुत ही मर्यादित दशा में थी। कवि अपनी

सब कविता अपने खीसे में रख सकता था। कविता को रचनेवाला, छापनेवाला और उसे प्रसिद्ध करनेवाला अकेला मैं ही था।

मेरा भाई इस काम में भागीदार था। वह मेरी कविता के प्रचार के लिये विज्ञापन का काम करता था। यह कविता कमल पुष्प पर बनाई गई थी। जितने उत्साह से मैंने उसकी रचना की थी, उतने ही उत्साह से मैंने वह कविता उसी समय और उसी स्थान पर, जीने के नीचे ही नवगोपाल बाबू को गाकर सुना दी। नवगोपाल बाबू ने हँसते-हँसते कहा कि 'बहुत अच्छी है,' यह 'द्विरेफ' क्या चीज है? द्विरेफ शब्द की उत्पत्ति मैंने कहाँ से की थी, यह मुझे आज भी याद नहीं है। यद्यपि एकाध दूसरे सादे शब्द से भी वह छन्द जम सकता था, परन्तु उस कविता में 'द्विरेफ' शब्द पर हमारी आशा का डोरा झूल रहा था। हमारे कार्यालय के कर्मचारियों पर तो इस शब्द ने बहुत ही अधिक प्रभाव डाला था, परन्तु नवगोपाल बाबू ने आश्चर्य है कि उस शब्द का कुछ भी मूल्य नहीं समझा और इतना ही नहीं, वे साथ में हँसे भी। उनके इस व्यवहार से मैंने निश्चय किया कि काव्य में इन महाशय की कुछ भी गति नहीं है। इसके बाद मैंने फिर कभी अपनी कविता उन्हें नहीं सुनाई। इस बात को आज बहुत वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और मेरी अवस्था भी बहुत अधिक हो गई है, तो भी मुझे इस बात का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ कि मेरी कविता पढ़नेवालों की रसिकता किसप्रकार आजमाई जाय, और उन्हें काव्यानन्द प्राप्त हुआ है या नहीं, यह किसप्रकार जाना जाय? नवगोपाल बाबू भले ही और कितना ही हँसे हों, पर मधुपान में लीन हुए मधुकर के समान द्विरेफ शब्द अपने स्थान पर चिपटा न रहा।

———

६

विविध शिक्षक

हमारी शाला का अध्यापक हमें घर पर सिखाने को आया हुआ था। उसका शरीर रूखा था। उसकी नाक, कान आदि में चमक नहीं थी। आवाज में कठोरता थी। मूर्तिमान बेंत की छड़ी-सा उसका शरीर था। सुबह साढ़े छः बजे से नौ बजे तक उसका समय नियत था। उसने हमें बंगाली वाङ्मय विषयक—शास्त्रीय क्रमिक पुस्तकों को छोड़कर—'मेघनाद बध' महाकाव्य पढ़ाना शुरू किया। मेरा तीसरा भाई मुझे भिन्न भिन्न विषयों का ज्ञान कराने में बहुत तत्परता दिखलाता था। इस कारण शाला के अभ्यास की अपेक्षा हमें घर पर बहुत अधिक सीखना पड़ता था। बड़ी सुबह उठकर लंगोट पहिन, एक अन्धे पहलवान के साथ हमें कुश्ती की एक-दो पकड़ भी सीखनी पड़ती थी। उसके बाद मिट्टी भरे हुए शरीर पर ही कपड़े पहिन कर भाषा, गणित, भूगोल और इतिहास का अभ्यास करने में जुटना पड़ता था। शाला से घर वापस आने पर हमें चित्रकला और व्यायाम सिखानेवाले शिक्षक तैयार मिलते थे। इस तरह रात के नौ बजे के बाद हमें सब कामों से छुट्टी मिलती थी। रविवार के दिन सुबह, विष्णु हमें गायन सिखाता था। उसीप्रकार वैज्ञानिक प्रयोग बतलाने के लिये प्रायः सीतानाथ दत्त भी प्रत्येक रविवार को आया करते थे। उनके दिखाए हुए प्रयोगों में से एक प्रयोग

मुझे बहुत ही पसन्द आया। एक काँच के बरतन में पानी भरकर उसमें उन्होंने लकड़ी का भूसा डाला और उस बरतन को आग पर चढ़ा दिया। हमें यह दिखलाया गया कि ठंढा पानी किस तरह नीचे गया और तपा हुआ पानी किस तरह ऊपर आया। तथा यह क्रम चलते हुए पानी किस तरह उबलने लगा। उनके इस प्रयोग से मुझे कितना आश्चर्य हुआ था—वह मुझे आज भी याद है। दूध से पानी अलग किया जा सकता है और दूध को औटाने पर दूध से पानी भाप बनकर अलग हो जाता है और दूध औंट जाता है, इतना भारी ज्ञान उस दिन होने पर मैं बहुत चकरा गया था। सीतानाथ बाबू यदि रविवार को नहीं आते थे, तो वह दिन रविवार-सा प्रतीत नहीं होता था।

शरीर की हड्डियों का परिचय कराने के लिये भी एक घंटा समय नियत था। यह परिचय कराने के लिये केवल मेडिकल स्कूल का एक विद्यार्थी आया करता था। तारों से बँधा हुआ मनुष्य देह का अस्थि-पिंजर हमारे कमरे में रख दिया गया था। इन सबसे अन्त की बात यह है कि संस्कृत व्याकरण के नियमों को कंठस्थ कराने के लिये भी हेरंब तत्वरत्न ने समय नियत कर दिया था। संस्कृत व्याकरण के नियम कंठस्थ करने में मुख को अधिक श्रम करना पड़ता है या हड्डियों के नाम याद करने में, यह मैं निश्चयपूर्वक कहने में असमर्थ हूँ। पर मुझे यह विश्वास है कि इस सम्बन्ध में व्याकरण के सूत्र ही पहला नम्बर फटकारेंगे उक्त सब विषय हमें बंगाली में सिखाए जाते थे, इनमें हमारी प्रगति हो जाने पर हमें अंग्रेजी पढ़ाना आरम्भ हुआ। हमें अंग्रेजी सिखाने के लिये अघोर बाबू नियत किए गए थे अघोर बाबू स्वतः मेडिकल कालेज के विद्यार्थी होने के कारण हमें सिखाने के लिये संध्या समय आते थे। पुस्तकों में हम

यह पढ़ा करते हैं कि मनुष्य की सम्पूर्ण खोजों में अग्नि की खोज अधिक महत्व की है। मैं इस विषय में शंका नहीं करना चाहता; परन्तु मुझे तो छोटे पक्षियों के माता पिताओं को जो संध्या समय दिया जलाना नहीं आता—सो यह उन बच्चों का सौभाग्य ही मालूम होता है। प्रातःकाल होते ही इन्हें अपनी मातृभाषा से पाठ सीखने को मिलते हैं और प्रत्येक ने देखा होगा कि वे अपने पाठ कितने आनन्द से सीखते हैं। हाँ, अवश्य ही उन्हें अंग्रेजी नहीं आती, वे तो अपनी मातृभाषा ही सीखते हैं।

हमारे अंग्रेजी भाषा के शिक्षक का शरीर हट्टा-कट्टा था। अगर हम तीनों विद्यार्थी मिलकर कोई षड़यन्त्र करते और चाहते कि कम-से-कम एक दिन ये न आवें, तो भी हमें सफलता नहीं मिलती थी हाँ, एक बार कुछ दिनों तक ये न आ सके थे। क्योंकि मेडिकल कालेज के हिन्दू और ईसाई लड़कों के झगड़े में किसी ने इनके सिर पर कुरसी फेंक कर मारी थी, जिससे इनका सिर फूट गया था। यह एक प्रकार का उनपर संकट ही आ गया था, पर थोड़े ही दिनों में उन्हें आराम हो गया। उनके इस संकट से हमें यह नहीं मालूम हुआ कि यह संकट हमारे पर आया है, किन्तु हमें तो यही आश्चर्य हुआ कि यह इतने शीघ्र तन्दुरुस्त क्यों हो गये। एक दिन की मुझे अच्छी तरह याद है कि सन्ध्या हो गई थी, पानी बरस रहा था, हमारे मुहल्ले में घुटने तक पानी भरा हुआ था हौज का पानी बाग में बहने लगा था। केले के झाड़ों के झुब्बेदार सिरे पानी पर तैरते हुए मालूम होते थे। कदम्ब पुष्प से निकलती हुई सुगंधि के समान इस आह्लादकारक वर्षा युक्त सन्ध्याकाल में हमारे हृदय में आनन्द के झरने फूटने लगे और हम सोचने लगे कि अब

दो-तीन मिनटों के बाद ही शिक्षक बाबू के आने का समय निकल जायगा। परन्तु यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता था। हम दुःखित नेत्रों से अपने मुहल्ले की ओर देखते हुए शिक्षक महाशय की बाट जोह रहे थे। इतने ही में हमारी छाती में धड़ाका हुआ और हमें मालूम हुआ कि मूर्छा आई जाती है। क्योंकि इस मूसलाधार वर्षा की परवाह नहीं करते हुए हमारी चिरपरिचित काली छत्री हमारी ओर आती हुई दिखलाई पड़ी। सन्देह हुआ कि आनेवाला व्यक्ति कोई दूसरा होगा, पर नहीं। इस समय दूसरा कौन घर से बाहर निकलेगा। ऐसे तो हमारे शिक्षक ही थे जिनके समान शायद ही जगत में कोई दुराग्रही हो।

उनके कार्य-काल की सब ओर से परीक्षा करने पर यह नहीं कहा जा सकेगा कि अघोर बाबू कटुस्वभाव के पुरुष थे। उन्होंने हमसे कभी कठोर व्यवहार नहीं किया। यद्यपि वे हमसे नाराजी के स्वर में बोला करते थे; परन्तु उन्होंने हमसे रगड़ पट्टी कभी नहीं कराई। उनमें प्रशंसा के योग्य गुण भले ही भरे हों; पर उनके पढ़ाने का समय और विषय अवश्य ऐसे थे, जो हमें कभी रुचिकर नहीं हुए। पाठशाला में सम्पूर्ण दिवस त्रास पाकर ऊबे हुए चित्त से संध्या के समय घर पर आए हुए बालक को यदि देव-दूत भी पढ़ाने आवे और वह टिमटिमाते हुए दीपक के प्रकाश में अंग्रेजी पढ़ाना प्रारम्भ करे, तो वह उसे यमदूत-सा ही प्रतीत होगा। हमारे उक्त शिक्षक महाशय ने अंग्रेजी भाषा की मोहकता का हमें विश्वास कराने के लिये एक बार कितना प्रयत्न किया था, इसका मुझे अच्छा स्मरण है। वह प्रयत्न यह था कि उन्होंने एक अंग्रेजी पुस्तक में से कुछ अंश हमें इस रीति से सुनाया था, जिससे कि हमें आनन्द

हो। उसे सुनकर हम नहीं समझ सके कि यह गद्य है या पद्य, साथ में उस सुनाने का परिणाम भी विपरीत ही हुआ। अर्थात् सुनकर हमलोग इतने ज्यादा हँसे कि हमारे शिक्षक महाशय को उस दिन पढ़ाना ही छोड़ना पड़ा। उन्हें यह जानना चाहिए था कि बालकों का मन अपने समान एक दो रोज में नहीं हो सकता। किन्तु यह विवाद तो वर्षों तक मिटनेवाला नहीं है। हमारी पाठशाला में सिखाए जानेवाले सर्व विषय प्रायः रूखे ही थे। इसलिये अघोर बाबू शाला के नीरस विषयों की अपेक्षा दूसरे विषयों से ज्ञानामृत का हमपर सिंचन करके हमारी थकावट मिटाने का कभी-कभी प्रयत्न भी किया करते थे। एक दिन उन्होंने अपने खीसे में-से कागज से लिपटी हुई कोई चीज निकाली और कहा कि आज तुम्हें मैं विधाता का एक चमत्कार बतलाता हूं। ऊपर का कागज निकाल डालने पर उसमें-से मनुष्य का चेहरा उन्होंने बाहर निकाला और चेहरे के द्वारा मनुष्य के मुख की इन्द्रिय-रचना उन्होंने हमें समझाई। उस समय मेरे मनपर जो धक्का लगा, उसको मुझे आज तक याद है। मुझे यह विश्वास था कि मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर ही बोलता है। कोई एकाध इन्द्रिय के द्वारा बोलने की स्वतन्त्र क्रिया होती है इसकी मुझे कल्पना ही नहीं थी। किसी अवयव की रचना भले ही चमत्कारपूर्ण हो, पर बात सम्पूर्ण मनुष्य शरीर की अपेक्षा तो हीन ही रहेगी, इसमें सन्देह नहीं। यह विचार उत्पन्न होने के लिये उस समय मुझे इतने शब्दों का प्रयोग नहीं करना पड़ा था, पर यह एक कारण था, जिससे मेरे मन पर उस समय भारी धक्का लगा था। दूसरी बार एक दिन वे हमें मेडिकल कालेज में मनुष्य के शव चरइने-चीरने की जगह की ओर ले गए थे। एक वृद्ध स्त्री का शव टेबिल पर रखा हुआ

था। उसे देखकर मुझे कुछ भी अटपटा-सा नहीं मालूम हुआ। परन्तु जमीन पर काटकर डाली हुई उसकी टगड़ी देखते ही मैं बेहोश हो गया। छिन्न-भिन्न स्थिति में किसी मनुष्य को देखने का यह प्रसङ्ग मुझे इतना भय-प्रद और घृणित प्रतीत हुआ कि कितने ही दिनों तक वह पूरा दृश्य और वह काले रंग की टँगड़ी मेरे दृष्टि के आगे से दूर नहीं हुई। 'प्यारी सरकार' द्वारा रचित पहली और दूसरी पुस्तक पढ़ लेने के बाद हम 'मेककुलों' की पुस्तकें पढने लगे। शाम के समय हमारा शरीर थका हुआ रहता था। पर। जाने के लिये हमारा मन उत्सुक होता था। ऐसे समय में काले पुट्ठे की कठिन शब्दों से भरी हुई पुस्तक हमें सीखनी पड़ती थी। उसमें भी विषय इतना नीरस होता था, जिसकी सीमा नहीं। इसका कारण यह था कि उस समय श्री सरस्वती देवी ने अपना मधुर मातृभाव प्रगट नहीं किया था, आजकल के समान उस समय पुस्तकें सचित्र नहीं रहती थीं। इसके सिवाय प्रत्येक पाठरूपी चौकी पर शब्दों रूपी द्वारपालों की पंक्ति, संधि और स्वराघातों के आड़े तिरछे चिन्हों की संगीनों को कंधों पर रखकर वालकों को अड़ाने के लिये रास्ते में खड़ी रहती थीं। उन पंक्तियों पर मैं (एक के बाद दूसरी पर) आक्रमण करता था, पर मेरे सब आक्रमण व्यर्थ जाते थे। हमारे शिक्षक दूसरे विद्यार्थियों का उदाहरण देकर हमें लज्जित करते थे और उससे हमें विषाद होता, ग्लानि होती और उस चतुर विद्यार्थी के सम्बन्ध में मन कलुषित भी होता था। पर इसका उपयोग क्या ? इससे उस काले पुट्ठे की पुस्तक का दोष थोड़े ही हमारे मन से दूर हो सकता था।

मानव जाति पर दया करके जगत को सम्पूर्ण दवा देनेवाली बातों में विधाता ने बेहोशी की औषध डाल दी है। हमारा

अंग्रेजी पाठ प्रारम्भ होते ही हम ऊँघने लगते थे। आँखों पानी लगाना और बरामदे के नीचे दौड़ लगाना आदि उस को दूर करने के उपाय थे और इससे निद्रा का नशा क्षणमा के लिये कम भी हो जाता था; पर फिर वही क्रम शुरू होता था कभी-कभी हमारे बड़े भाई उधर से निकलते और हमें निद्राक्र देखते तो 'बस अब रहने दो' यह कहकर हमारा छुटकारा कर देते थे और जहाँ इसप्रकार हमें छुट्टी मिली कि फिर उँघाई न मालूम कहाँ भाग जाती थी।

७

मेरा प्रथम बहिर्गमन

एक बार कलकत्ते में ज्वर की बीमारी फैली। इसलिये हमा बड़े भारी कुटुम्ब में-से कुछ लोगों को छटू बाबू के नदी की वाले उद्यान गृह में जाकर रहना पड़ा था। इन लोगों में हम बालक भी शामिल थे।

अपना घर छोड़कर दूसरी जगह रहने का यह मेरा पहला ही प्रसङ्ग था। पूर्वजन्म के प्रेमी-मित्र के समान गंगा नदी ने मुझे अपनी गोद में बैठाकर मेरा स्वागत किया। उस उद्यान गृह में नौकर-चाकरों के रहने की जगह के आगे आम के झाड़ का एक बाग था। बरामदे में इन वृक्षों की छाया के नीचे बैठकर

वन की डालियों के बीच में-से गंगा नदी को देखता हुआ मैं दिन निकाला करता था। रोज सुबह उठने पर मुझे ऐसा मालूम होता था कि मानो सुनहरी बार्डर से विभूषित कुछ नवीन समाचार देनेवाले पत्र के समान दिन मेरे पास आ रहा है। ऐसे अमूल्य दिन का क्षण भर भी व्यर्थ न जाने देने के लिये मैं जल्दी-जल्दी स्नान करता था और बरामदे में अपनी कुरसी पर जा बैठता था। गंगा में रोज भरती ओटो (ज्वार भाटा) आया करती थी। भिन्न भिन्न प्रकार की बहुत सी नौकाएँ इधर-से-उधर घूमती दिखलाई पड़ती थीं। प्रातःकाल में पश्चिमाभिमुख दिखने वाली वृक्षों की छाया शाम के समय पूर्वाभिमुख दिखलाई पड़ती थी। सूर्यनारायण की किरण सायंकाल के समय आकाश से पृथक होकर उस ओर के तटपर के वृक्षों की छाया के पास जा पहुँचती थी। कभी-कभी सुबह से ही आकाश मेघों से श्याम हो जाता था। ऐसे समय में उस ओर की झाड़ी में अन्धकार रहता था और वृक्षों की काली छाया नदी के जल में हिलती हुई दिखलाई पड़ती थी। इतने में ही जोर से वृष्टि होने लगती थी। चारों दिशाओं के धूमर हो जाने के कारण क्षितिज का दिखना भी बन्द हो जाता था। वर्षा बन्द हो जाने पर वृक्ष-छाया में-से अश्रु से पड़ने लगते। नदी का पानी बाढ़ के कारण बढ़ने लगता था और वृक्ष की छाया को हिलाती हुई ठंडी-ठंडी भीनी हवा बहुत जोर से चलने लगती थी।

मुझे प्रतीत होता था कि घर की दीवालों, मगरों और म्यालों के पेट में से घर से बाहर के जगत में मेरा नवीन जन्म हुआ है साथ में ऐसा मालूम होता था कि बाह्य वस्तुओं से नूतन परिचय करने के कारण मेरी घृणित एवं हीन आदतों का आच्छादन, जगत् और मेरे बीच में से दूर हो रहा है। सुबह

के समय मैं पूड़ी के साथ-साथ राब खाता था। उसका रस अमृत से कम नहीं होता था, क्योंकि अमरत्व अमृत में नहीं है किन्तु प्राशन करनेवाले में है और इसीलिये वह ढूँढने-फिरने वालों के हाथ नहीं लगता है।

घर के पीछे दीवालों से घिरा हुआ एक चौक था, जिसमें एक छोटा सा हौज भी बना हुआ था। इसके ऊपर स्नान करने की जगह थी और पानी तक सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। एक ओर जामुन का विशाल वृक्ष खड़ा हुआ था और हौज के आस-पास में कई प्रकार के घने फल के वृक्ष लगे हुए थे, जिनकी छाया में वह हौज ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई छिपका बैठा हो। घर के भीतरी भाग के इस छोटे से एकान्त बगीचे के कुछ में जो सौंदर्य छिपा हुआ था उसने—घर के सामने के नदी किनारे पर के सौंदर्य ने—मुझपर जो मोहजाल डाला था, उसके भिन्न प्रकार का मोहजाल फैला हुआ था। स्वतः गाढ़े हुए नई वाले तकिए पर दोपहर के समय एकान्त स्थान में अन्तःकरण छुपे हुए विचारों को गुनगुनाती हुई विश्राम करनेवाली वधू के समान उस बाग की रमणीयता मालूम होती थी। हौज के भीतर कहीं छिपे हुए यक्ष के भीत प्रद राज्य का दृश्य देखता हुआ मैं जामुन के वृक्ष के नीचे दोपहर के समय व्यतीत कर देता था। बंगाली खेड़े कैसे होते हैं, यह देखने की मुझे बहुत इच्छा थी। बनके घरों का समूह, वहाँ के घर आँगन के मण्डप, छोटे-छोटे मार्ग, स्नान करने के घाट, छोटे छोटे हौज, खेल, बाजार, खेत, दूकान, वहाँ का सारा जीवन, रहन सहन आदि बातों का मेरा कल्पना ने जो चित्र खींच रखा था, उससे मेरा चित्त और भी अधिक आकर्षित होता था। ठीक इसीप्रकार का खेड़ा हमारे घर की दीवार

सामने-दिखलाई पड़ता था, पर वहाँ जाने की मनाही थी। यद्यपि हम कलकत्ते से बाहर तो आ गए थे; पर हम बन्धन मुक्त नहीं हुए थे। पहले हम (कलकत्ते में रहते समय) पिंजरे में बन्द थे। इस समय पिंजरे से तो बाहर हो गए थे; पर हमारे पाँव में जो सिक्कड़ पड़ी हुई थी, उससे हम मुक्त नहीं हुए थे। एक दिन सुबह हमारे वृद्धजनों में से दो पुरुष घूमने फिरने के लिये उठ खड़े की ओर जाने को निकले। उस समय मैं अपनी इच्छा एक क्षण भर के लिये भी नहीं रोक सका। इसलिये उन्हें बिना मालूम हुए मैं धीरे से उनके पीछे पीछे कुछ दूर तक चला गया।

मैंने देखा कि एक मनुष्य नंगे बदन पानी में खड़ा हुआ अपने शरीर पर इधर-उधर पानी डाल रहा है और दतौन को चबाता हुआ दाँत घिस रहा है, यह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सम्मुख खड़ा हो जाता है मैं यह सब देखते देखते उन लोगों के पीछे जा रहा था। इतने में ही उन लोगों को यह बात मालूम हो गई कि मैं भी उनके पीछे-पीछे आ रहा हूं। बस, नाराज होकर कहने लगे कि 'जा वापिस लौट जा।' उस समय मैं नंगे पाँव था। धोती भी नहीं पहिनी थी। सिर्फ कोट ही पहिने हुए था। अर्थात् बाहर जाने योग्य पोशाक मैंने नहीं की थी। बस, इसी पर वे कहने लगे कि ऐसी हालत में हमारे साथ चलने से लोग हमें हँसेंगे? पर यह क्या मेरा अपराध था। अभी तक मुझे पैरों के मोजे नहीं खरीद दिए गए थे और न दूसरे कपड़े ही थे, जिससे मैं सभ्यपने की पोशाक कर सकूं। मुझे भगा देने से मैं निराश होकर अपने स्थान पर लौट आया और फिर कभी बाहर निकलने का मुझे अवसर ही नहीं मिला। इसप्रकार यद्यपि घर के उस ओर क्या है यह देखने को मुझे

मनाही हो गई, पर घर के आगेवाली गंगानदी ने इस मुनाही से मेरी मुक्ति कर रखी थी (आनन्द से घूमनेवाले मधुप डोंगी) में बैठकर मेरा मन अपनी इच्छा के अनुसार भूगोल की किसी पुस्तक में न मिलनेवाले दूर दूर के देशों में जा पहुँचता था। इस बात को चालीस वर्ष हो चुके हैं, चम्पकच्छाया से आच्छादित उद्यान गृह में उसके बाद फिर मैंने कभी पाँव भी नहीं रखा। संभव है कि वही जूना पुराना घर और उसके आस पास के पुरातन वृक्ष आज भी वहाँ होंगे; पर मुझे यह विश्वास नहीं होता कि वे सब वस्तुएं पहिले के ही समान होंगी। क्योंकि जिसे दिन-ब-दिन नए-नए आश्चर्य होते थे, वह मैं अब पहले जैसा कहाँ रहा हूँ? मेरी बहिर्गमन की यह स्थिति पूर्ण हो गई। मैं शहर के 'जोड़ासांकू' वाले घर में लौट आया। मगरमच्छ के समान पसरी हुई अध्यापकशाला के मुँह में मेरे दिन कौर के समान एक के बाद एक जाने लगे।

८

श्रीकंठबाबू

मेरे सुदैव से मुझे इस समय एक श्रोता मिल गया था। उसके समान दूसरा श्रोता मुझे कभी नहीं मिले थे। इनमें श

आनन्दमय रहने की इतनी अमर्यादित शक्ति थी कि हमारे मासिक पत्रों में-से किसी भी मासिक पत्र ने टीकाकार के स्थान के लिये उन्हें अयोग्य ही माना होता। वह वृद्ध मनुष्य ठीक पके हुए आर्यफान्सो आम के समान था। इस आम में रेसा और खटाई बिल्कुल ही नहीं होती। इनका सिर व दाढ़ी खूब घुटी हुई और चिकनी थी। इनके मुँह में दाँत एक भी नहीं था। उनके बड़े बड़े हँसते हुए से नेत्र सदा आनन्द से चमकते रहते थे। मृदु गम्भीर स्वर में जब वे बोलने लगते थे, तब ऐसा मालूम होता था कि उनके मुँह, आँख आदि सब बोल रहे हैं। उनपर पहले की मुसलमानी सभ्यता का संस्कार था। अंग्रेजी का उनसे स्पर्श भी नहीं हुआ था। कभी न भूले जानेवाले उनके दो साथी थे। एक दाहिने हाथ में हुक्का और दूसरा गोदी में सितार। इनकी जोड़ी मिलते ही श्रीकंठ बाबू अलापने लगते थे।

श्रीकण्ठ बाबू को किसो से भी औपचारिक परिचय करने की आवश्यकता कोई भी निर्घृण विनोदी लेखक इस पुस्तक में मेरे पर के प्रेम का कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं करेगा, ऐसी आशा है। एक दिन उन्होंने मुझे बुलवाया और पूछा कि 'तू कविता बनाता है न?' मैं भी सच्ची बात क्यों छिपाऊँ? मैंने कहा 'हाँ'। तब से समस्यापूर्ति करने के लिये मुझे सदा दो दो चरण देने लगे।

हमारी पाठशाला के गोविन्द बाबू रंग के काले, क़द के ठिगने और शरीर के खूब मोटे थे। वे व्यवस्थापक थे। काली पोशाक पहिनकर दूसरे मंजिल पर कार्यालय की कोठरी में हिसाब की बहियाँ देखते हुए वे बैठे रहते थे। अधिकार-दंड ग्रहण किए हुए न्यायाधीश के समान उनकी गम्भीर मुद्रा से

हम सब बहुत डरते थे। पाठशाला में कुछ बदमाश विद्यार्थी भी थे। वे हमें बहुत त्रास दिया करते थे। इसलिये एक बार उनके त्रास से अपना छुटकारा कराने के लिये उन लोगों की नजर चुराकर मैं गोविन्द बाबू की कोठरी में घुस गया। विद्यार्थी मुझसे अवस्था में बड़े थे। उन्होंने मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचा था। उस समय मेरे आँसुओं के सिवाय दूसरा कोई विद्यार्थी मेरी ओर से बोलनेवाला नहीं था। परन्तु मेरी विजय हुई और तब से गोविन्द बाबू के अन्तःकरण में एक छोटा-सा कोमल स्थान मुझे भी प्राप्त हो गया।

एक दिन बीच की छुट्टी में उन्होंने मुझे अपनी कोठरी में बुलाया। डर से काँपते काँपते मैं उनके पास गया। मेरे पहुँचते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि 'क्या तू कविता भी बनाता है?' तब मैंने भी किसी प्रकार की आना कानी न कर कहा कि 'हाँ बनाता हूँ।' उन्होंने एक नये नीति तत्व पर कविता बनाने की मुझे आज्ञा दी। वह तत्व कौन सा था, इसका मुझे अब स्मरण नहीं है। उनकी इस विनती में कितनी सौजन्यता और निरभिमानता थी, यह उनके विद्यार्थी ही समझ सकते हैं, मैं दूसरे दिन कविता बनाकर ले गया। तब उन्होंने सबसे बड़ी कक्षा में ले जाकर मुझे वहाँ के विद्यार्थियों के आगे खड़ा किया और कविता पढ़ने का हुक्म दिया। तब मैंने वह कविता उच्च स्वर से पढ़कर सुना दी।

इस नैतिक कविता की प्रशंसा करने में अब एक ही हेतु है और वह यह कि वह कविता तुरन्त ही खो गई। इस कक्षा के विद्यार्थियों के मन पर कविता का परिणाम निराशाजनक ही हुआ। उनमें कविता रचनेवाले के प्रति आदर-बुद्धि बढ़ाना

न होकर उन्हें यही विश्वास हुआ कि यह कविता किसी दूसरे की बनाई हुई होगी और एक विद्यार्थी ने तो यह भी कहा कि जिस पुस्तक में-से कविता उतारी गई है उस पुस्तक को कल मैं ला भी दूँगा। परन्तु उसने पुस्तक लाने के सम्बन्ध में किसी ने आग्रह नहीं किया। जिन्हें किसी बात पर विश्वास ही करना होता है उन्हें उसके प्रमाण एकत्रित करना त्रासदायक मालूम होता है। अन्त में काव्यकर्ता को कीर्ति के पीछे पड़नेवालों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई और उन्होंने इसके लिये नैतिक मार्ग से भिन्न मार्ग का आश्रय लिया।

आजकल छोटे बालक द्वारा कविता-रचना कोई विशेष महत्व का नहीं माना जाता। काव्य का असर भी प्रायः नष्ट-सा हो गया है। उस समय जो थोड़ी सी स्त्रियाँ कविता बनाया करती थीं उन्हें 'विधाता की अलौकिक सृष्टि' की पदवी किसप्रकार प्राप्त होती थी, इसका मुझे आज भी अच्छी तरह स्मरण है। आज तो यह दशा है कि यदि किसी से कहा जाय कि अमुक तरुण स्त्री कविता नहीं बना सकती, तो उसे इस बात पर विश्वास ही नहीं होगा। आज कल तो बंगला-भाषा की उच्च कक्षा में जाने के पहले ही लड़के और लड़कियों में कवित्व का अंकुर फूटने लगता है। इसलिये मैंने जो ऊपर काव्य-विजय का वर्णन किया है, उस ओर आज का कोई भी गोविन्द बाबू उझककर भी नहीं देखना चाहेगा।

९

मैं कविता करने लगा

आड़ी खड़ी रेखाओं के जाल में टेढ़े-तिरछे अक्षरों के लिखने से मधु-मक्खी के छत्ते के समान वह नीली कोरी पुस्तक भ[illegible] गई और फिर शीघ्र ही बाल लेखक के उत्कंठापूर्ण दबाव [illegible] उनके पन्ने भी फट गए। उसके बाद कोने भी घिसकर [illegible] हो गए और भीतर की लिखी हुई कविता को खूब पचड़ रखने के लिये ही मानों इस पुस्तक की गुड़ी-मुड़ी भी हो गई। फि[illegible] मालूम नहीं किस वैतरणी नदी में दयालु काल ने उस पुस्त[illegible] के पृष्ठ हड़प कर लिए। कुछ भी हुआ हो, पर यह ठीक है कि छापेखाने की वेदना से उसका छुटकारा हो गया और [illegible] संसारगर्त में फिर जन्म लेने का भी भय उसे नहीं रहा।

सरकारी बाबू हमारे वर्ग के शिक्षक नहीं थे, तो भी मैं उन्हें बहुत प्रिय था। उन्होंने प्राणीशास्त्र के इतिहास पर एक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक का आवश्यकता प्रतीत नहीं होती थी। क्योंकि उनके आनन्दी और उत्साही अन्तःकरण के आकर्षण की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता था। एक बार फोटो निकलवाने के लिये वह हमें एक प्रसिद्ध फोटोग्राफर की दुकान पर ले गए और अपनी गरीबी का व फोटो की अत्यन्त आवश्यकता का दुकानदार के आगे कुछ हिन्दी और कुछ बंगला भाषा में ऐसा सरस

वर्णन किया कि दूकानदार मोहित हो गया और उसने हँसते-हँसते अपनी निश्चित दर से कुछ कम दर पर फोटो खींचना स्वीकार कर लिया। अंग्रेज दूकानदारों के यहाँ प्रायः भाव पहले से ही ठहरे हुए रहते हैं और कभी ज्यादा या कम करने की वहाँ गुञ्जाइश ही नहीं रहती। परन्तु श्रीकण्ठ बाबू ने वहाँ भी अपने लाघवी भाषण से काम बना लिया और यह नहीं मालूम होने दिया कि उनका बोलना नियम विरुद्ध है। श्रीकण्ठ बाबू अत्यन्त भावुक; सहृदय और दूसरे का उपमर्द करने के लिये स्वप्न में भी विचार करनेवाला मनुष्य न था। वे कभी-कभी हमें एक यूरोपियन मिशनरी के घर ले जाया करते थे। वहाँ भी उनका वही क्रम रहता था। हँसना, गाना, खेलना, उनकी छोटी लड़की को खिलाना, मिशनरी की स्त्री के पैरों की खूब स्तुति करना आदि। दूसरों से न हो सकनेवाली बातों से वे मिशनरी के घर पर बैठे हुए लोगों को प्रसन्न कर दिया करते थे। इस तरह हीनतापूर्वक व्यवहार करनेवाला यदि वहाँ कोई दूसरा होता, उसकी पशुओं में ही गणना होती, पर श्रीकण्ठ बाबू के सहज रीति से दिखलाई पड़नेवाले निष्कपट भाव से लोग खुश हो जाते और उनकी बातों में शामिल होते थे।

लोगों की उद्धता का श्रीकण्ठ बाबू पर कुछ भी परिणाम नहीं होता था। उन दिनों हमारे यहाँ एक साधारण गवैया वेतन पर नियत किया गया था। शराब के नशे में अंट-शंट बोलकर वह श्रीकण्ठ बाबू के गाने का मनमाना मजाक उड़ाया करता था, परन्तु श्रीकण्ठ बाबू प्रत्युत्तर देने का कुछ भी प्रयत्न न करके उसकी सब बातें बड़े धैर्य के साथ सहन करते थे। इतना ही नहीं, किन्तु जब उसके उद्दंड व्यवहार के कारण उसे निकाल दिया गया, तब श्रीकण्ठ बाबू ने बड़ी सहानुभूति के

कहकर उसकी सिफारिश की कि यह उसका दोष नहीं, उसके दारू पीने का दोष था।

किसी का दुख देखने अथवा सुनने से उन्हें बहुत दुःख होता था। इसलिये यदि हम बालकों में-से कोई बालक उन्हें कष्ट पहुँचाना चाहता तो वह विद्यासागर के वनवास में-से कुछ भाग उनके आगे पढ़ने लगता था। बस श्रीकण्ठ बाबू एकदम उसे पढ़ने से रोक देते थे।

यह वृद्ध मनुष्य, मेरे पिता, बड़े भाई और हम सब बालकों का प्यारा था। अवस्था में भी हम सबमें मिल जाया करता था। बड़ों में बड़ा और छोटे-में-छोटा बन जाना इसके लिये मामूली बात थी। जिस प्रकार पानी की लहरों के साथ खेलने और नाचने में सब प्रकार के पाषाण खण्ड एक से ही होते हैं, उसी प्रकार थोड़ी-सी उत्तेजना मिलने पर श्रीकण्ठ बाबू आनन्द में भी बेहोश से हो जाया करते थे। एक प्रसंग पर मैंने एक स्तोत्र की रचना की। इस स्तोत्र में मैंने इस जगत में मनुष्य पर आने वाले संकटों और उसकी परीक्षा की कसौटियों के प्रसङ्गों का उल्लेख करने में कसर नहीं की थी। मेरे इस भक्ति विषयक सुन्दर काव्य रत्न से मेरे पिताजी को अवश्य बहुत आनन्द होगा, इसका श्रीकण्ठ बाबू का पक्का विश्वास हो गया और इस अनिवार्य आनन्द के पूर में उन्होंने वह स्तोत्र स्वतः जाकर मेरे पिता को बतलाना स्वीकार किया। सुदैव से उस समय वहाँ मैं नहीं था। परन्तु पीछे से मैंने सुना कि इतनी छुटी अवस्था में अपने पुत्र को जगत के दुःखों ने इतना व्यथित किया कि उससे उसमें कवित्व शक्ति की स्फूर्ति उत्पन्न हो गई, यह जानकर मेरे पिता को बहुत हँसी आई। हमारी पाठशाला के अध्यापक गोविन्द बाबू ने इतने गम्भीर विषय पर कविता करने के सम्बन्ध में मेरे

प्रति अवश्य आश्चर्य दिखलाया होता और मेरी प्रतिष्ठा की होती।

गायन के सम्बन्ध में श्रीकंठ बाबू का मैं खास शिष्य था। उन्होंने मुझे एक गायन भी सिखलाया था और वह सुनाने के लिये वे हर एक के पास मुझे ले जाया करते थे। जब मैं गाने लगता था, तब वे सितार बजाकर ताल देने लगते थे और जब मैं धुरपद पर्यन्त आता था तब वे भी मेरे साथ गाने लगते थे। बार-बार एक ही पद को बोलकर प्रत्येक सुननेवाले की ओर वे गर्दन हिला हिला कर जिस प्रकार हँसते थे उससे यह मालूम होता था कि मानो श्रीकंठ बाबू यह चाहते हैं कि लोग उनके गुण को जानें और उनकी प्रशंसा करें।

श्रीकंठ बाबू मेरे पिता के बड़े प्यारे भक्त थे। 'वह ईश हमारे हृदयों का भी हृदय' इस भाव के बंगाली गायन को उन्होंने अच्छी तरह बैठा लिया था। मेरे पिता को यह गायन सुनाते समय श्रीकंठ बाबू को ऐसा कुछ आनन्द का पूर आता था कि वे अपने स्थान पर-से-एकदम कूँद कर खड़े हो जाते थे और बीच-बीच में बड़े जोर से सितार बजाते हुए 'वह ईश हमारे हृदयों का भी हृदय' यह पद्य बोलते हुए मेरे पिता की ओर अपना हाथ बढ़ा देते थे।

जिस समय यह वृद्ध पुरुष मेरे पिता से अन्तिम भेंट करने के लिये आया, उस समय पिताजी चिसुरा के नदी-तटवाले उद्यान गृह में रोगशय्या पर पड़े हुए थे। श्रीकन्ठ बाबू भी उस समय इतने बीमार थे कि दूसरे की सहायता के विना उनसे उठा बैठी तक नहीं जाता था। ऐसी स्थिति में भी वे बीरभूमि से चिसुरा अपनी पुत्री को साथ लेकर आए थे। बड़े कष्ट से

उन्होंने मेरे पिता की चरण धूलि ली और फिर अपने घर चले गए। कुछ दिनों बाद वहीं उनका अन्त भी हुआ। उनकी पुत्री के द्वारा पीछे से मैंने सुना था कि अन्त समय 'कितनी मधुर दया प्रभु तेरी' यह स्तोत्र बोलते हुए उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया था।

१०

बंगला शिक्षा का अन्त

उस समय हम सबसे ऊँची कक्षा की नीची श्रेणी में पढ़ाए जानेवाले विषयों की अपेक्षा घर पर बंगला में हमारी बहुत अधिक प्रगति हो गई थी। अक्षय बाबू की 'सुगम पदार्थ विज्ञान' नामक पुस्तक सीख चुके थे। इसके सिवा 'मेघनाद बध' नामक महाकाव्य भी हम पूरा बाँच चुके थे। 'पदार्थ विज्ञान शास्त्र' में वर्णित पदार्थों की सहायता के बिना उक्त 'सुगम पदार्थ विज्ञान' नामक पुस्तक पढ़ने के कारण हमारा ज्ञान कोरा पुस्तकीय ज्ञान ही था और इस कारण उसके पढ़ने में जो समय लगा वह व्यर्थ ही गया। मुझे तो यह मालूम होता है कि यदि कुछ न पढ़कर समय यों ही व्यतीत किया होता, तो इससे अच्छा हुआ होता। 'मेघनाद बध' का विषय भी हमें आनन्ददायक नहीं था। भाषा की अत्यन्त सरलता का ज्ञान केवल बुद्धि सामर्थ्य से ही नहीं होता। भाषा सीखने के लिये महाकाव्य का

उपयोग करना और सिर मूँड़ने के लिये तलवार का उपयोग करना, दोनों ही समान हैं। तलवार का अपमान और सिर का ध्वंस। उसी प्रकार महाकाव्य की अपेक्षा और सीखनेवाले के हिस्से में लाभ के नाम शून्य, काव्य सिखाने का उद्देश सुन्दर भावनाओं की उत्पत्ति और उनकी सार संभाल होना चाहिए। व्याकरण अथवा शब्द कोश का काम काव्य-देवता से लेने पर सरस्वती देवी संतुष्ट नहीं हो सकतीं।

अध्यापक शाला में हमारा जाना एकाएक बन्द हो गया। कारण यह हुआ कि हमारे एक शिक्षक को श्रीयुत मित्र रचित हमारे पितामह के जीवन-चरित्र की प्रति की आवश्यकता थी। यह पुस्तक हमारी लाइब्रेरी में थी। अतः इसके लिये मेरे भांजे और सहाध्यायी सत्य ने बड़ी हिम्मत करके यह बात मेरे पिता से कहना स्वीकार किया। सत्य का यह मत था कि मेरे पिता से सदा के अनुसार सादी भाषा में विनती करने से कुछ अधिक लाभ नहीं होता। अतः उसने पुरानी भाषा-पद्धति के द्वारा इतनी अच्छी तरह अपना कहना पिताजी से कहा कि उससे उन्हें य विश्वास हो गया कि हमारा बंगला भाषा का अभ्यास इतना अधिक हो गया है कि अब इससे अधिक पढ़ना लाभदायक नहीं है। अतः दूसरे ही दिन जब कि सदा के नियमानुसार दक्षिण की ओर के बरामदे में हमारा टेबिल रख दिया था, गया दीवाल के खीले पर पटिया रखी हुई थी और नीलकमल बाबू से सीखने की सब प्रकार की तैयारी हो रही थी कि पिताजी ने हम तीनों को ऊपर की मञ्जिल पर अपने कमरे में बुलवाया और कहा कि आगे से तुम्हें बंगला सीखने की जरूरत नहीं है। यह सुनते ही हम मारे आनन्द से नाचने लगे।

हमारी पुस्तकें टेबिल पर खुली हुई पड़ी थीं। नीलकमल बाबू

में भर्ती किया गया। अब हम बड़े हो गए थे और हमें कुछ महत्व भी प्राप्त हो गया था। अब हमें मालूम होने लगा कि हम स्वतन्त्रता के मंदिर की पहली मञ्जिल पर पहुँच गए हैं। वस्तुस्थिति ध्यान में लेकर यदि कुछ कहना पड़े तो हम यही कहेंगे कि इस संस्था में भर्ती होने के बाद यदि किसी विषय में हमारी प्रगति हुई तो वह स्वतन्त्रता में ही हुई, दूसरे किसी में नहीं। क्योंकि हमें जो पढ़ाया जाता था उसे हम बिलकुल ही नहीं समझते थे और न समझने का कभी प्रयत्न ही करते थे। और न समझने का कभी प्रयत्न ही करते थे। हमारे कुछ न सीखने पर किसी को अपना हानि-लाभ भी नहीं मालूम होता था। यहाँ के लड़के यद्यपि खुराफातें करते थे, पर यह सन्तोष की बात है कि वे तिरस्करणीय नहीं थे। वे अपनी हथेली पर Ass 'गधा' शब्द लिखते और हमारी पीठ पर उसका छापा मार कर हँस देते अथवा पीछे से हमें धक्का देकर ऐसे शान्त बन जाते थे, मानो उन्हें कुछ मालूम ही नहीं है। धीरे से पीछे आकर सिर पर चपत जमाकर भाग जाते थे, इसप्रकार एक नहीं बीसों तरह की खुरचालें वे किया करते थे। इस स्कूल में भर्ती होने के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि हम आग में-से निकलकर भूँवर में आ पड़े। यद्यपि इससे हमें त्रास हुआ, पर कोई ईजा नहीं हुई।

इस पाठशाला में एक बात मेरे सुभीते की थी। वह यह कि हमारे समान बड़ों के लड़के कुछ सीखेंगे, इसकी वहाँ कोई आशा नहीं करता था। यह शाला एक छोटी-सी संस्था थी, जिसकी आमदनी खर्च के बराबर भी नहीं थी। हमारी फीस ठीक समय पर दी जाती थी। इसलिये यहाँ के अधिकारी हमारे ... आभार दृष्टि से देखा करते थे। यह भी एक बड़ा फायदा

था। वड़े आदमी के लड़के और समय पर फ़ीस देनेवाले होने से यदि लैटिन व्याकरण हमें नहीं आता था, तो भी हमें कोई दंड नहीं देता था। हम कितनी ही गलतियाँ करें पर हमारी पीठ को उसके लिये कभी इनाम नहीं दिया जाता था। इसका कारण यह नहीं था कि लैटिन सीखना हमें कठिन मालूम होता था, इसलिये हमपर कोई दया करता था, किन्तु हमारे साथ व्यवहार करने के सम्बन्ध में शालाधिकारियों को विशेष सूचनाएँ दे रखी थीं।

कितनी भी निरुपद्रवी हुई तो भी आखिर तो वह शाला ही थी। इस शाला की इमारत आनन्द देनेवाली न थी। कक्षा की कोठरियाँ अत्यन्त मलीन थीं और आस-पास की दीवालें पुलिस के पहरेदार सिपाहियों के समान मालूम होती थीं। उस स्थान को मनुष्य के रहने का स्थान न कहकर यदि कबूतरखाना कहा जाय, तो अधिक वस्तुस्थिति दर्शक होगा। वहाँ न तो कोई शोभा उत्पन्न करनेवाली वस्तु थी और न चित्र, तसवीरें, रंग-बिरंगापन आदि था, जिससे बालकों के मनों का आकर्षण हो सके।

इस बात की ओर पूर्णतया दुर्लक्ष किया गया था कि मन-मोहक वस्तुओं के चुनाव से लड़कों का मन लगता है। इसका सहज परिणाम यह होता था कि दरवाजे में-से भीतर के चौक में जाते हमारा शरीर और मन उत्साह-शून्य हो जाता था और इस कारण स्कूल में गैरहाज़िर रहने का हम प्रायः सदा प्रयत्न करते थे।

ऐसी परिस्थिति में हमें युक्ति भी सूझ गई थी। मेरे बड़े भाई ने फ़ारसी सिखाने के लिये एक शिक्षक नियत किया था। उसे हम 'मुंशी' कहा करते थे। यह मध्यम वय का दुबला-पतला

पुरुष था। उसमें न तो मांस का चिन्ह था और न रक्त का अंश ही। उसका सारा शरीर काला ठीकरा हो गया था। शायद वह फारसी अच्छी जानता होगा। अंग्रेजी का ज्ञान भी उसे अच्छा था। पर इन दोनों बातों में उसका विशेष ध्यान नहीं था। अपने गायन पटुत्व का सिर्फ लाठी के खेल से ही वह साम्य समझता था। हमारे यहाँ आँगन के बीचो बीच गर्मी में वह खड़ा हो जाता और छाया को अपना प्रतिस्पर्धी मानकर उसे अपने मजेदार लकड़ी के हाथ दिखलाया करता था। मेरे यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि उसके बेचारे प्रतिपक्षी को कभी भी विजय नहीं मिलती थी। खेलते खेलते अन्त में वह बड़े जोर से चिल्लाने भी लगता था और विजयी मुद्रा से हँसते-हँसते प्रतिपक्षी के सिर पर लाठी का प्रयोग भी करता था। इससे उसकी लाठी उसके पैरों के पास आकर टकराने लगती थी। इसी प्रकार नाक के स्वर से निकलनेवाले उसके बेसुरे गाने को भी गाना कौन कहेगा? वह स्मशान भूमि में से निकलनेवाली भयानक किलकारियों का एक तरह से मिश्रण ही था। हमारे गायन-शिक्षक कभी-कभी मजाक में उससे कहा करते थे कि देखो मुन्शीजी! तुम यदि इसी तरह का क्रम रखोगे तो फिर हमारी गुजर होना मुश्किल है। इसपर तिरस्कारयुक्त मुद्रा से वह कुछ हंस दिया करता था। बस, यही उसका उत्तर था, अधिक नहीं।

उसके व्यवहार से हमने यह समझा कि मुन्शीजी से जरा नियमपूर्वक बोलने से काम बन जाता है। बस, इसी युक्ति से जब हम पाठशाला को नहीं जाना चाहते थे, तब कोई एक कारण बनाकर मुन्शीजी को इस बात के लिये राजी कर लेते थे कि वहाँ शाला के अधिकारियों को हमारे न आने का कारण सूचित

कर दे। शाला के अधिकारियों के पास वह जो पत्र भेजता था, उसमें बतलाए हुए कारण ठीक हैं या नहीं, इसके जानने की वहाँ के अधिकारी पर्वाह ही नहीं करते थे और पाठशाला में हमारे अभ्यास की जैसी-कुछ प्रगति होती थी, उसपर विचार करने से यह मालूम होता है कि शाला में जाने और न जाने में कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

आजकल मेरी भी एक शाला है। उस शाला में भी सब प्रकार की खुरचालें करनेवाले लड़के हैं। लड़के खुरचालें करनेवाले होते ही हैं और उनके शिक्षक भी आँखों में तेल डालकर बैठे रहते हैं। लड़कों के अव्यवस्थित व्यवहार से जब हमारा सिर फिर जाया करता है और हम दंड देने का निश्चय करने लगते हैं, तब पाठशाला में रहकर की हुई मेरी सब खुरचालें पंक्तिबद्ध होकर मेरे आगे कल्पना रूप में खड़ी हो जाती हैं और मेरे पूर्वावस्था की याद दिलाती हुई मेरी ओर देखकर हँसने लगती हैं।

अनुभव से मुझे अब विश्वासपूर्वक यह मालूम होने लगा है कि बहते हुए प्रवाह के समान छोटे बालक चालाक और कोमल होते हैं, यह बात भूलकर, हमलोग बड़ी अवस्थावाले आदमियों के व्यवहार की कसौटी से छोटे बालकों के भले-बुरे व्यवहार की परीक्षा करते हैं, पर यह भ्रम है और इसलिये बालचरित्र में कुछ कमी होनेपर आकाश-पाताल एक करने की कोई जरूरत नहीं है। प्रवाह का जोर ही सुधार करने का—दोष दूर करने का—उत्कृष्ट साधन बन जाता है। परन्तु जब प्रवाह बन्द होकर पानी के छोटे-छोटे डबके बन जाते हैं, तब वास्तव में बहुत अड़चन पड़ती है। इसलिये अव्यवस्थित-व्यवहार के संबंध में सावधानी की आवश्यकता विद्यार्थियों की अपेक्षा शिक्षक को ही अधिक है।

सब लोग अपनी-अपनी जाति के नियम पालन कर सकें इस दृष्टि से बंगाली विद्यार्थियों के उपहार के लिये हमारी पाठशाला में स्वतन्त्र-स्थान नियत था। अपने दूसरे बंगाली बन्धुओं से मैत्री करने का यही स्थान था। वे सब लड़के अवस्था में मुझसे बड़े थे। उनमें-से एक लड़के के सम्बन्ध में कुछ लिखना हानिकर न होगा, ऐसी आशा है।

इस लड़के में यह विशेषता थी कि यह जादू का खेल करने में बहुत ही निपुण था। इस विषय पर इसने एक पुस्तक भी लिखी थी और वह छप भी गई थी। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर उसके नाम के पहले 'प्रोफेसर' शब्द भी झलक रहा था। इससे पहिले किसी भी लड़के का नाम छपा हुआ मैंने नहीं देखा था इसलिये 'जादू के प्रोफेसर' के नाते से उसके प्रति मुझे एक विशेष प्रकार का आदरभाव उत्पन्न हो गया था। उस समय मैं समझता था कि ऐसी कोई बात नहीं छप सकती, जो संशययुक्त हो। कभी न पुछने और उड़नेवाली स्याही से अपने नाम के शब्दों को छापकर सदा के लिये स्थायी बना देना कोई छोटी मोटी बात नहीं है और न अपने छपे शब्दों द्वारा जग आगे खड़े होने में कम पुरुषत्व ही है। इसप्रकार का आत्मविश्वास आँखों के आगे खड़े होने पर कौन उसपर विश्वास न करेगा। एक बार मैंने एक छापेखाने में-से अपने नाम के अक्षर छापने के लिये मँगाए और जब उनपर स्याही लगाकर मैंने अपना नाम छापा, तब उसे देखकर मैं समझा वाह यह कितनी रमणीय बात हुई।

हमारे इस गुरु-बन्धु और ग्रन्थकार मित्र का कभी-कभी हमें अपनी गाड़ी में स्थान दिया करते थे। इस कारण हम दोनों का प्रेम बढ़ने लगा और बराबर मुलाकात होने लगी। वह नाटक में भी अच्छा स्वांग लेता था। उसकी सहायता से हमने अपने

तालीमखाने में एक स्टेज-रंगभूमि बनाई थी। इसकी चौखट बाँस की थी, जिसपर कागज चिपका दिए थे। पर ऊपर से नाटक करने की मनाही का हुक्म आने से हम इस रंगभूमि में खेल न कर सके। अतः हमें बड़ी निराशा हुई।

इसके बाद बिना ही स्टेज के हमने 'भ्रान्ति कृत चमत्कार' नामक नाटक खेला। पाठकों को इस नाटक के रचयिता का परिचय इस जीवन स्मृति में पहले ही दिया जा चुका है। अर्थात वह हमारा भांजा 'सत्य' था। इसकी आज कल की शांत और गंभीर प्रकृति को यदि कोई देखेगा तो उसे यह सुनकर अवश्य ही आश्चर्य होगा कि बाल्यावस्था में यही प्राणी अनेक खुरचालों का जनक रहा है। मैं यह जो कुछ लिख रहा हूँ यह घटना मेरी १२-१३ वर्ष की अवस्था के बाद की है। हमारे जादूगर मित्र ने कितनी ही वस्तुओं के चमत्कारपूर्ण गुण, धर्म बतलाए थे। उन चमत्कारों को देखने की मुझे बड़ी जिज्ञासा थी। परन्तु उसने जो चीजें बतलाई थीं, उन चीजों का प्राप्त करना बड़ा ही कठिन था। एक बार ऐसी दिल्लगी हुई कि प्रोफेसर साहब प्रयोग में इतने तल्लीन हो गए कि प्रत्य वस्तु का नाम ही उन्हें याद नहीं रहा। बस वस्तु के रस में इक्कीस बार बीज को भिगो देने पर तुरन्त ही उसमें अंकुर फूटते हैं, फिर फूल आते हैं और उसके बाद फल लगने लगते हैं और यह सब क्रिया एक घड़ी के भीतर-ही-भीतर हो जाती है। भला इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? यद्यपि जिसका नाम पुस्तक पर छपा हुआ है हमारे उस प्रोफेसर की बात पर मैंने अविश्वास तो नहीं किया, पर इस बात की आजमाइश करने का निश्चय अवश्य किया।

हमने अपने माली के द्वारा उस वनस्पति का बहुत-सा रस

मँगवाया और एक रविवार के दिन आम की गुठली पर प्रये
करने के लिये मैं ऊपर के एक कोने में जादूगर बन कर बैठ
गुठली को रस में डुबाने और सुखाने के काम में मैं बिलकु
गड़-सा गया था। मेरी इस क्रिया का क्या परिणाम हुआ, व
जानने के लिये वयस्क पाठकों को ठहरने की जरूरत भी नहं
है। इधर दूसरे कोने में सत्य ने स्वतः जादू का वृक्ष तैयार कि
था, उसमें एक घड़ी के अन्दर अंकुर फूट निकला था, यह ब
मुझे मालूम नहीं हुई। आगे जाकर इस अंकुर में चमत्कारि
फल लगनेवाले थे।

इस प्रयोग के बाद प्रोफेसर साहब हमसे अलग रहने लगे
यह बात धीरे-धीरे हमारे भी ध्यान में आ गई। गाड़ी में व
हमारे पास बैठने से झिझकने लगा। वह हमें देखकर गद
नीची कर लिया करता था।

एक दिन पाठशाला में उसने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि
सब अपनी बारी-बारी से बेंच पर से कूदें। उसमें इसने प्रत्ये
का कौशल्य अजमाने का अपना उद्देश बतलाया था। जादू वे
प्रोफेसर में इसप्रकार की शास्त्रीय जिज्ञासा होगी—आश्चर्यजन
नहीं था। खैर! हम सब कूदे। मेरे कूदने पर उसने 'हूं' कहक
गर्दन हिलाई। हमने उसके मन का अभिप्राय जानने को बं
बहुत-कुछ हिलाया-डुलाया, पर उसके मुंह से इससे ज्याद
कुछ भी न निकला।

फिर एक दिन उसने हमसे कहा कि हमारे कुछ भले मित्र
को आपसे परिचय करने की इच्छा है, अतः आप मेरे साथ में
चलें। हमारे घर से भी हमें आज्ञा मिल गई और हम उसके साथ
गए। वहाँ बहुत से लोग एकत्रित थे और कौतूहलोत्सुक दिखलाई

पड़ते थे। उन लोगों ने मुझसे कहा कि हमें तुम्हारा गाना सुनने की बड़ी इच्छा है। उनकी इच्छा के अनुसार मैंने एक-दो पद गाए। मैं एक छोटा बालक था। अतः मैं बैल के समान थोड़े ही डकार सकता था। मेरे स्वर को सुनकर सबलोग वाह! वाह!! करने लगे और कहने लगे कि बहुत मधुर आवाज है।

फिर हमारे आगे नाश्ते का सामान रखा गया। हमारे खाने के समय सब लोग हमारे आस-पास बैठ गए और हमें बड़े ध्यान से देखने लगे। मैं स्वभावतः लजालु था। इसके सिवा दूसरे लोगों के सहवास का मुझे अभ्यास भी नहीं था और भी एक बात थी कि हमारे नौकर 'ईश्वर' के कारण मुझे थोड़ा खाने की आदत पड़ गई थी। अतः वहाँ मैंने बहुत थोड़ा खाया। मेरे इस व्यवहार पर उन लोगों का यह पक्का मत हो गया कि मैं खाने के काम में बड़ा नाजुक हूँ।

इस नाटक के अन्तिम अंक में मुझे उस प्रोफेसर ने कुछ प्रेम पूर्ण पत्र भेजे। उनपर-से सब बात खुल गई और हमारे उनके परिचय का अन्तिम पर्दा गिर गया।

आगे जाकर सत्य से मुझे मालूम हुआ कि अच्छी तरह से शिक्षा देने के लिये मेरे पिता ने मुझे लड़कों जैसे कपड़े पहिना रखे हैं, वास्तव में मैं लड़की हूँ। आम की गुठली पर जादू का प्रयोग करते समय सत्य ने यह बात मेरे मन पर अच्छी तरह जमा दी थी।

जादू के खेल में मजा का अनुभव करनेवालों से ऊपर की बात का इसप्रकार खुलासा करना उचित मालूम होता है कि लोगों का यह विश्वास है कि लड़कियाँ बायाँ पैर आगे करके कूँदती हैं। प्रोफेसर ने जब मुझसे कूँदने को कहा था, तब मैं

भी इसी प्रकार कूदा था। यही देखकर उसने 'हूँ' कहा था। उस समय मेरी कितनी भारी भूल हुई कि वह बात मेरे ध्यान तक में नहीं आई।

१२

मेरे पिता

मेरा जन्म होने के बाद तुरन्त ही मेरे पिता ने बारहों महीने इधर-उधर प्रवास करना प्रारम्भ किया था। इस कारण यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि बाल्यावस्था में उनका मेरा बिलकुल ही परिचय नहीं हो पाया था। कभी-कभी आकस्मिक रीति से वे घर पर आते थे। उस समय उनके साथ प्रवासी नौकर-चाकर भी रहते थे। उन नौकरों के साथ मिलाप करने की मुझे बड़ी इच्छा रहती थी। एक बार लेनू नामक तरुण पञ्जाबी नौकर उनके साथ आया था। हमने जो उसका प्रेमपूर्ण स्वागत किया था वह महाराजा रणजीतसिंह के स्वागत से कम नहीं था। वह जाति से ही परदेशी नहीं था, किन्तु नखशिख से भी परदेशी था। इस कारण उसपर हमारा बहुत प्रेम हो गया था। सम्पूर्ण पञ्जाबी राष्ट्र के प्रति महाभारत के भीमार्जुन के समान ही हमारा आदर भाव था। क्योंकि वे लड़वैये लोग हैं। यदि समरांगण में लड़ते-लड़ते उनका कभी पराभव हुआ,

तो उसमें उनके शत्रु का ही दोष समझना चाहिए। ऐसे शूर पञ्जाबी का हमारे घर में होना हम अपना भूषण समझते थे। मेरी भौजाई के पास लड़ाऊ जहाज की नकल का खिलौना था। वह काँच की आलमारी में रखा रहता था। चाबी देते ही नीले रङ्ग की रेशमी लहरों पर वह टिक्‌टिक् आवाज के साथ चलने लगता था।

कौतुकपूर्ण लेनू को उस खिलौने का चमत्कार दिखाने के लिये थोड़े समय के वास्ते वह खिलौना देने को मैं अपनी भौजाई से बड़ी अनुनय-विनय किया करता था। सदा घर में रहने के कारण किसी भी नूतन बाह्य वस्तु का सम्बन्ध होते ही मेरे मन पर उसका विलक्षण प्रभाव पड़ा करता था। लेनू के प्रभाव का भी यही एक कारण था। रङ्ग-बिरङ्गा ढीला ढाला चोंगा पहिने हुए इत्र और तैल बेचने के लिये आनेवाले डौब्रियल नामक यहूदी इत्रवाले की ओर भी मेरा मन इसी प्रकार आकर्षित होता था। इसका भी कारण यही था। थैले के समान ढीले-ढाले पाजामे पहिनकर और कंधों पर बड़ी-बड़ी पोटलियाँ लटकाकर आनेवाले काबुली लोगों को देखकर भी मेरा मन विलक्षण रीति से मोहित हो जाता था।

मेरे पिता जब घर आते थे, तब उनकी सवारी के लवाजमें के आस-पास चक्कर लगाने से और उनके नौकरों के साथ में परिचय करने से हमें समाधान हो जाता था। प्रत्यक्ष पिताजी के पास जाने का हमें साहस ही नहीं होता था।

एक बार हमारे पिताजी हिमालय गए हुए थे। उन दिनों हिन्दुस्तान पर रूस की चढ़ाई करने की अफवाह उड़ी थी। यह अफवाह लोगों के प्रक्षुब्ध चर्चा का एक विषय बन गया था। मेरी माता की एक मैत्रिणी ने उसके पास आकर सद्हेतुपूर्वक

तामक-मिर्च मिलाते हुए भावी संकट का काल्पनिक वर्णन किय कि तिब्बत की किस पहाड़ी में-से रशिया का सैन्य समूह धूम्रकेतु के समान कब आ पहुँचेगा। यह कौन कह सकता है? मेरी माता इस अफवाह से एकदम घबरा गई थी। संभव है कि कुटुम्ब के दूसरे लोग भी उसके भय के भागीदार बने न होंगे, इसलिये जब उसने देखा कि बड़े लोगों की सहानुभूति उसके प्रति नहीं है तब उसने मेरा—लड़के का—आश्रय लिया।

उसने बड़े अनुनयपूर्ण भावों से मुझसे कहा कि रशिया की चढ़ाई के संबंध में तू अपने पिताजी को पत्र लिख। आज तक मैंने पिताजी को कभी पत्र नहीं लिखा था। माता के कहने से लिखा हुआ मेरा यही पहला पत्र था। पत्र का प्रारम्भ किस प्रकार किया जाय और उसका अन्त किस प्रकार हो—यह मुझे बिलकुल ही मालूम नहीं था। अतः मैं अपना जमींदारी के मुन्शी महानन्द के पास गया और उसकी सहायता से मैंने सिरनामा लिखा। यद्यपि लिखा हुआ सिरनामा बिलकुल ही ठीक था, पर उसमें दरबारी ढङ्ग आ गया था। समाचारों में मनोविकार मेरे थे, पर उसपर दरबारी भाषा का आवरण था।

मेरे पत्र का मुझे उत्तर मिला कि तुम कुछ चिन्ता मत करो। यदि रशियन लोग चढ़ाई करके आते ही होंगे, तो मैं स्वतः उन्हें भगा दूँगा। इस अभय वचन से भी मेरी माता का भय दूर नहीं हुआ। पर मेरे मन में पिता के सम्बन्ध में जो भय था, वह दूर हो गया। इसके बाद पिताजी को रोज पत्र देने की मेरी इच्छा होती थी और इसके लिए मैं महानन्द को सताया करता था। मेरा आग्रह बहुत अधिक होता था। अतः उसका तोड़ना कठिन होने के कारण वह मुझे लिख दिया करता था। वह मसौदा तैयार कर देता था, मैं उसकी नकल करता था। परन्तु

मुझे यह नहीं मालूम था कि पत्र पर पोष्ट की टिकटें भी लगानी पड़ती हैं। मेरी यह कल्पना थी कि महानन्द को पत्र दे देने पर वे अपने स्थान जा पहुँचते हैं। उनके लिए फिर विशेष त्रास करने की जरूरत नहीं होती। महानन्द मेरी अपेक्षा अवस्था में बड़ा था और वह सब बात समझता था। अतः मेरे पत्र अपने स्थान पर पहुँच जाया करते थे।

बहुत दिनों के बाद मेरे पिता घर पर थोड़े दिनों तक रहने के लिए आया करते थे। वे थोड़े ही दिन के लिये क्यों न आवें, पर उनका दबदबा घर भर पर रहा करता था। हमारे घर के दूसरे बड़े आदमियों को भी कपड़े पहिन कर, चबाये हुए पान को थूककर धीरे-धीरे सौम्य मुद्रा से पिता के कमरे में जाते हुए हम देखते थे। सब लोग उस समय बहुत तत्पर दिखने लगते थे। और रसोई घर में किसी प्रकार की अव्यवस्था न होने देने के लिये स्वतः मेरी माँ उसपर देख-रेख करने लगतीं थीं। किनू नामक एक वृद्ध चोबदार सफेद अंगरखा पहिने और सिर पर तुर्रेदार पगड़ी लगाए हुए पिताजी के कमरे के पास खड़ा रहता था। और दुपहर के समय जब कि पिताजी सो जाया करते थे, वह हमें बरामदे में शोर न करने के लिए चेतावनी दिया गया था। जब हमें पिताजी के कमरे के आगे से निकलना होता था तो पैरों की आवाज न करते हुए धीरे-धीरे बिना कुछ बोले हम लोग निकलते थे। उनके कमरे में झुककर देखने की भी हमें हिम्मत नहीं होती थी।

एक बार हम तीनों भाइयों का व्रतबंध करने के लिए पिताजी घर पर आए। व्रतबंध की क्रिया के लिए उन्होंने पंडित वेन्दात वागीश की सहायता से वेद की प्राचीन विधि संकलित की थी। उपनिषदों में-से कुछ सूक्तियाँ स्वतः [illegible] इकर उन्होंने उस

कभी नहीं मिलते। हमारे भाट लोग यह तत्व अच्छी तरह जानते हैं। इसलिये उनके वर्णन में संस्कृत शब्द और गहन विषयों का प्रतिपादन ओत-प्रोत भरा रहता है। सादे और भावुक श्रोताओं को ये बातें समझ में नहीं आतीं। फिर उनका उपयोग क्या? बड़े-बड़े लम्बे संस्कृत शब्द और गहन प्रतिपादन, इनका यदि श्रोतागण आकलन न कर सकें तो भी उनसे उनके संलग्न विचार सूचित होते हैं और विचारों को चालन मिलता है, यह क्या कम लाभ है।

जो लोग शिक्षा की नाप-जोख आधि-भौतिक हानि-लाभ की तराजू में डालकर करते हैं, वे भी इस सूचक शक्ति की अवहेलना नहीं कर सकते। यद्यपि सीखे हुए पाठ में-से कितने अंश का बालक आकलन कर सके हैं, इसका गणित के द्वारा निश्चय करने का ये लोग आग्रह करते हैं, परन्तु इससे ज्ञान के उस नन्दनबन ज्ञान की अन्तर शक्ति का ह्रास हो जाता है, जिसमें बालक और अधिक शिक्षा नहीं पाए हुए लोग रहते हैं। परिणाम यह होता है कि ज्ञान की अन्तर-शक्ति नष्ट हो जाती है और आकलन शक्ति के बिना किसी भी बात का ज्ञान न होने का दुर्दिन प्राप्त हो जाता है।

आकलन शक्ति के भयानक मार्ग के अवलम्बन के बिना वस्तुज्ञान करा देनेवाले मार्ग राजमार्ग हैं। यह मार्ग बन्द कर देने पर जगत का व्यवहार सदा के अनुसार चलते रहने पर भी स्वैरगति सागर और पर्वत की उत्तुङ्ग शिखरें भी अपने वश में न रहेंगी।

मेरे ऊपर कहे अनुसार उस अवस्था में यदि मैं गायत्री के सम्पूर्ण अर्थ का आकलन नहीं कर सका, तो भी उसमें कोई

हानि न होकर कुछ-न-कुछ लाभ ही हुआ। मनुष्य मात्र में ऐसी एक शक्ति रही हुई है कि किसी विषय का पूर्णतया आकलन न होने पर भी उसका काम नहीं रुकता, प्रत्युत अच्छी तरह चलता ही रहता है। एक दिन का मुझे स्मरण है कि उस दिन हमारे पढ़ने के कमरे के एक कोने में चूने गच्चो की जमीन पर बैठ कर गायत्री के शब्दों का मैं विचार कर रहा था। उस समय मेरे नेत्र आँसुओं से भर गए। वे आँसू क्यों आए थे? इसका कारण मेरी समझ में नहीं आया और यदि किसी ने आग्रहपूर्वक अश्रु आने का कारण पूछा ही होता, तो मैंने गायत्री से उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं बतलाया होता। मुझे आँसू आने के कारण का ज्ञान न होने में वास्तविक तत्त्व यह है कि अन्तरङ्ग में ज्ञान शक्ति के जो व्यापार चलते रहते हैं, उनका ज्ञान बाह्य जगत् में रहनेवाले 'मैं' को नहीं हो पाता।

१३

पिताजी के साथ प्रवास

मेरे सिर के मुंडन के कारण, मौंजी बन्धन समारम्भ के बाद मुझे एक बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई। गाय के दूध से तैयार होनेवाले 'सन्देश, रसगुल्ला आदि पदार्थों के सम्बन्ध में यूरेशियन लड़कों का कितना ही अच्छा मत हुआ, तो भी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में

उनमें आदर बुद्धि का पूर्ण अभाव रहता है। हमारी छेड़खानी करने के उनके पास जो अनेक शस्त्रास्त्र होते हैं उनपर विचार न भी किया जाय, तो भी हमारा मुंडन किया हुआ सिर ही छेड़खानी के लिए काफी था। इसलिये मुझे चिंता थी कि शाला में जाते ही अपनी छेड़खानी हुए बिना न रहेगी। ऐसी चिन्ता के दिनों में एक दिन मेरे पिता ने मुझे ऊपर बुलाकर पूछा कि क्या तुझे मेरे साथ हिमालय चलना रुचिकर मालूम होता है? मैं विचारने लगा 'बंगाल एकेडेमी' से दूर जाना और सो भी 'हिमालय पर' इस बात से मुझे जितना आनन्द हुआ है वह बतलाने के लिए यदि मुझमें आकाश को आनन्द-स्वर से गजगजा देने की आज शक्ति होती तो कितना अच्छा होता।

हमारे जाने के दिन मेरे पिता ने सदा की रिवाज के अनुसार परमेश्वर की प्रार्थना करने के लिए घर के सब लोगों को प्रार्थना-मंदिर में एकत्रित किया। प्रार्थना समाप्त हो जाने पर अपने गुरुजनों का चरण स्पर्श करके पिताजी के साथ मैं गाड़ी में जा बैठा। मेरे लिये संपूर्ण पोशाक बनने का मेरे अब तक के जीवन में यह पहला ही अवसर था। मेरे पिताजी ने स्वतः कपड़े और रंग का चुनाव किया था। नवीन वस्त्रों में जरी के बेल बूटों वाली मखमली टोपी भी थी। उमरर मेरे केश रहित मस्तक के सान्निध्य से न मालूम क्या परिणाम हो, इस भय से मैंने वह टोपी हाथ में ही लेली थी। परन्तु गाड़ी में बैठते ही टोपी लगाने की पिताजी की आज्ञा मिलने से मुझे लगानी ही पड़ी। पिताजी की नजर फिरते ही [illegible]
अलग हो जाती थी और ज्योंही उनकी न[illegible]
यह भी अपने स्थान पर विराजमान हो ज[illegible]

अपनी व्यवस्था और आज्ञा के

छानबीन करते थे। कोई भी सन्दिग्ध अथवा अनिश्चित रहने देना उन्हें पसन्द नहीं था और न कुछ सबब बतलाकर टाल-मटूल करना ही उन्हें अच्छा लगता था। परस्पर के सम्बन्ध को नियमित करने के लिए उन्होंने नियम बना दिये थे। अपने देशबन्धुओं के बहु-जन-समाज से इस बात में वे बिलकुल ही भिन्न थे।

हम लोग, यदि एक दूसरे के साथ व्यवहार करने में बेपर्वाही कर जाते हैं तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। परन्तु उनके साथ व्यवहार करने में हमें परिश्रम करके भी बहुत कुछ व्यवस्थित रहना ही पड़ता था। काम थोड़ा हुआ या बहुत इसके सम्बन्ध में वे कुछ नहीं बोलते थे, पर काम जिसप्रकार का होना चाहिये यदि उसप्रकार का नहीं होता था तो वे बिगड़ उठते थे। वे जो काम करवाना चाहते थे उसकी छोटी से छोटी बात निश्चित कर देने की उनकी आदत थी। घर में यदि कोई उत्सव होनेवाला होता और वे उस समय यदि घर में नहीं रह सकते होते, तो कौनसी वस्तु कहाँ रखी जाय, कौन-सा अतिथि कहाँ ठहराया जाय आदि सब बातें स्वयं निश्चित कर देते थे। कोई भी बात उनकी नजर से नहीं छूटती थी उत्सव हो जाने पर सब लोगों को बुलाते और अपने ठहराए हुए कामों का सब वर्णन सुनकर फिर अपने मन में निश्चित करते थे कि उत्सव किसप्रकार का हुआ होगा। इसी कारण प्रवास में उनके साथ रहते समय मुझे मनोविनोद करने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी, पर दूसरी बातों में उन्होंने जो मार्ग निश्चित कर दिया था उससे दूर जाने का मुझे बिलकुल ही अवसर नहीं था।

हमारा पहला मुकाम बोलपुर में होनेवाला था। थोड़े दिनों पहिले सत्य भी अपने माता-पिता के साथ बोलपुर जाकर लौट

आया था। उसने हमसे अनेक प्रवास का जो वर्णन किया था उस वर्णन को उन्नीसवीं शताब्दी के किसी भी स्वाभिमानी बालक ने रत्तीभर भी महत्व नहीं दिया होता। हमारी मनोरचना ही भिन्न प्रकार की थी। शक्यता और अशक्यता के अन्त को जान लेने की क्रिया सीखने का पहले हमें कभी अवसर ही नहीं मिला था। यद्यपि महाभारत और रामायण की पुस्तकें हमने बांची थीं, पर इन्होंने भी हमें इस विषय में कुछ नहीं सिखलाया था। लड़कों को अनुकरण करने का मार्ग सिखानेवाली बालकोपयोगी सचित्र पुस्तकें भी उस काल में प्रचलित नहीं थीं। इसलिये जगत के नियमन करनेवाले नकद नियमों का ज्ञान हमें ठोंकरें लगने से ही हुआ।

सत्य ने हमसे कहा था कि जो मनुष्य बहुत अनुभवी न हो उसका रेलगाड़ी में चढ़ना बहुत धोखे का काम है। ज़रा चूके कि गए। मामला खत्म हुआ। उसने हमसे यह भी कहा था कि रेलगाड़ी के चलते समय अपनी जगह को जितना हो सके उतने बल से पकड़ रखना चाहिये, नहीं तो गाड़ी के धक्के से मनुष्य कहां जा गिरेगा, यह नहीं कहा जा सकता। उसके इस कहने पर से जब मैं स्टेशन पर पहुँचा तब थर-थर काँपने लगा। हम लोगों के इतनी सहज रीति से डिब्बे पर चढ़ जाने पर भी मुझे यही विश्वास रहा कि कठिन प्रसङ्ग तो अब आगे आने वाला है। अन्त में जब गाड़ी चलने लगी और संकट का कोई भी चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ा, तब मुझे धीरज बँधा और बड़ी निराशा हुई।

गाड़ी वेगपूर्वक चलने लगी। दूर-दूर तक फैले हुए बड़े-बड़े खेत, उनकी मेड़ों पर के जामुनी और हरे रंग के वृक्ष, उन वृक्षों की गहरी छाया में स्थित गाँव, चित्र के समान एक के बाद एक

आते और मृग-जल के पूर के समान हो जाते थे। हम जब बोलपुर पहुँचे, तब सध्या हो गई थी। म्याने में बैठते ही मेरे नेत्र झपकने लगे जगने पर प्रातःकाल के प्रकाश में मेरा देखा हुआ दृश्य ज्यों-का-त्यों दिखाई दिए, इसलिये उस आश्चर्यजनक दृश्य को सम्हालकर रखने की मेरी इच्छा थी। मुझे यह भय मालूम होने लगा कि संध्या काल के धुंधले प्रकाश में यदि नेत्र खुले रखकर उस दृश्य के कुछ भाग का हम अवलोकन करेंगे तो प्रातःकाल के आनन्ददायक समय में उस सौंदर्य का जो मधुर अनुभव हमको मिलेगा उसकी नवीनता कम हो जायगी।

सुबह जगकर जब मैं बाहर आया, तब उस समय भी अंतःकरण थर-थर काँप रहा था। मेरे पहले जिन्होंने बोलपुर देखा था, उन्होंने कहा था कि जगत् में कहीं न मिलनेवाली एक बात बोलपुर में हैं। वह एक रास्ता है जो कि मुख्य भवन से लेकर नौकरों के रहने के स्थान तक गया है। इसपर चलनेवाले को न तो धूप लगती है और न वर्षा के दिनों में पानी की बूँद उनपर गिरती है। जब मैं बोलपुर पहुँचा तब रास्ते को ढूँढ़ने लगा, पर मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया और यह सुनकर शायद पाठकों को आश्चर्य न होगा कि आज तक भी उस रास्ते का मुझे पता न लगा।

मेरा पालन-पोषण शहर में होने के कारण इस समय तक मैंने गेहूँ के खेत नहीं देखे थे। ग्वालों के बच्चों के सम्बन्ध में मैंने पुस्तक में पढ़ा था और अपनी कल्पना-शक्ति के चित्रपट पर एक सुन्दर उनकी प्रतिमा भी मैंने बनाई थी। सत्य ने मुझसे कहा था कि बोलपुर में घर के आस-पास पके हुए गेहूँ के खेत हैं, उनमें ग्वाल-बालों के साथ रोज खेल खेला करते हैं। खेल

में मुख्य काम बाल को तोड़ना, भूँजना और फिर मसलकर खाने का होता है। बोलपुर में जाकर जब मैंने बड़ी उत्सुकता से देखा, तब वहाँ पड़ती जमीन पर गेहूँ के खेतों का नाम भी नहीं। आस-पास भले ही ग्वालों के लड़के होंगे पर दूसरे लड़कों के समूह में उन्हें कैसे पहिचाना जाय, यह एक बड़ा प्रश्न था।

मुझे जो बात नहीं दिखो उसे मन में से निकाल लेने को बहुत समय नहीं लगा। क्योंकि मैंने जो कुछ देखा मेरे लिए वही भरपूर था। इस स्थान पर नौकरों का शासन नहीं था और मेरे आस-पास जो रेखा खींची हुई थी, वह इस एकान्त स्थान की अधिष्ठात्री स्वामिनी (प्रकृति) द्वारा खींची हुई चितिज पर की रेखा थी। इस रेखा के भीतर अपने इच्छानुसार इधर-उधर भटकने में मैं स्वतन्त्र था।

इस समय मैं छोटा बालक ही था, तो भी मुझे भटकने में पिताजी को कोई रोक-टोक नहीं थी। रेतीली जमीन में बरसाती पानी के कारण जगह-जगह गढ़े हो गए थे और स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी टेकरियाँ बन गई थीं, जिनपर बहुत से भिन्न-भिन्न आकार के पत्थर पड़े हुए थे। इन टेकरियों पर छोटे छोटे झरने बहते थे, जिन सबों से मानो गुलिव्हर के वृतान्त की बड़ी शोभा प्राप्त हो गई थी।

मैं इस स्थान से भिन्न-भिन्न आकार और रंग के छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करके अपने कोट में भरकर पिताजी के पास ले आता था। पिताजी ने इस परिश्रम की कभी अवहेलना नहीं की, प्रत्युत उत्साहपूर्ण शब्दों से वे सदा यही कहते थे कि वाह क्या अच्छे हैं। अरे! तुझे ये कहाँ मिले?

मैं तुरन्त ही उत्तर देता था कि अभी तो और भी वहाँ मिलेंगे, हजारों लाखों मिल सकते हैं। कुछ कमी थोड़े ही है।

मैं रोज इतने ही ले आया करूँगा। इसके उत्तर में वे कहते थे, बहुत अच्छी बात है। हमारी उस छोटी-सी टेकरी को इन पत्थरों से तूं क्यों नहीं सिंगारता है?

हमारे बाग में एक हौज बनवाने का प्रयत्न हुआ था। परन्तु जमीन में पानी बहुत गहरा होने के कारण खोदने का काम बीच में बन्द कर दिया गया। खोदने से निकली हुई मिट्टी का एक स्थान पर ढेर कर दिया था। इस ढेर की एक टेकरी-सी बन गई थी, जिसकी शिखर पर बैठकर पिताजी प्रातःकाल की उपासना किया करते थे। उनकी उपासना के समय ही, उनके सम्मुख पूर्व दिशा में क्षितिज से घिरे हुए और आन्दोलित होनेवाले भूपृष्ठ पर सूर्योदय हुआ करता था, मुझे जिस टेकरी को सिंगारने के लिये कहा गया था, यह वही टेकरी थी। जब हम बोलपुर छोड़कर जाने लगे, तब मेरे इकट्ठे किए हुए सब पत्थर मुझे वहीं छोड़ने पड़े। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ। वस्तुओं को संग्रह करने के एक मात्र कारण से उन वस्तुओं से निकट सम्बन्ध रखने का हमें कोई अधिकार नहीं है—इस बात का ज्ञान होना आज भी मुझे कठिन प्रतीत होता है। इतने भारी आग्रह से की हुई मेरी विनती मेरे दैव ने यदि स्वीकार की होती और उन पत्थरों का बोझ वह सदा मेरे पास रहने देता तो आज दैव को मैं जितना निष्ठुर मानता हूं उतना निष्ठुर मानने का शायद प्रसंग ही नहीं आया होता।

एक बार एक दर्रे में मुझे एक झरना दिखा। उसमें-से छोटी नदी के समान पानी बह रहा था। छोटी छोटी मछलियाँ भी थीं और प्रवाह के विरुद्ध चलने का वे प्रयत्न कर रही थीं।

मैंने अपने पिताजी से कहा कि मुझे एक सुन्दर झिर मिली

है। क्या वहाँ से आपके स्नान और पीने के लिये पानी नहीं लाया जा सकता ?

मेरे विचार उन्हें मान्य हुए और वे कहने लगे कि मैं भी तुमसे यही कहना चाहता था, फिर उस झिरे से पानी लाने के लिये उन्होंने नौकर को आज्ञा दे दी।

पहले जिन बातों का ज्ञान नहीं हुआ था, उन अज्ञात बातों पर प्रकाश डालने की इच्छा से उन छोटी-छोटी टेकरियों पर और पहाड़ियों पर मैं निरन्तर भटकता रहता था। इस भटकने से मैं कभी नहीं ऊबा। उस बिन शोधी हुई भूमि में फिरते समय मुझे सब वस्तुएँ दूरबीन की उलटी बाजू से देखने के समान छोटी-छोटी दिखलाई पड़ती थीं देखनेवाला भी छोटा था और टेकरियों के नीचे के पदार्थ भी छोटे दिखलाई पड़ते थे। नारियल, बेर, जामुन आदि के वृक्ष, पर्वत श्रेणी, धबधबे, नदियाँ, नाले और उनमें की मछलियाँ सब छोटी-छोटी दिखती थीं। मानो आपस में ये सब छोटी अवस्था के सम्बन्ध में चढ़ा-ऊपरी कर रही हों।

मेरे पास थोड़े पैसे और थोड़े रुपये देकर उनका हिसाब रखने को पिताजी ने आज्ञा दी थी। उनके इस कार्य का उद्देश यह था कि मैं यह सीख जाऊँ कि पर्वाह के साथ काम किस प्रकार करना चाहिए। इसके सिवा अपनी ऊँची कीमत की घड़ियों को चाबी देने का काम भी उन्होंने मेरे सिपुर्द कर रखा था। मेरे में जबाबदारी की भावना उत्पन्न करने की इच्छा से उन्होंने हानि की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। हम दोनों साथ-साथ घूमने को जाते थे। उस समय रास्ते में जो भिखारी मिलता, उसे कुछ देने के लिए वे मुझे आज्ञा देते थे। वे घर आकर मुझसे हिसाब पूछते थे। मेरा बतलाया हुआ हिसाब कभी

बराबर नहीं मिलता था। एक दिन मैंने खर्च का हिसाब दिया। पर खर्च की रकम घटाकर रोकड़ में जितना बचना चाहिये उससे रोकड़ में अधिक पैसे थे, इसपर पिताजी ने कहा कि 'तुझे ही मेरा खजाञ्ची बनना चाहिए, क्योंकि तेरे हाथ के स्पर्श से पैसे की बढ़ती होता है।'

उनकी घड़ियों में मैं इतनी जोर से चाबी लगाता था कि तुरन्त ही उन्हें घड़ीसाज के पास कलकत्ते भेजना पड़ता था।

मुझे स्मरण है कि जब मैं बड़ा हो गया, तब एक बार जमींदारी के काम की देखरेख करने लिये मेरी नियुक्ति हुई। उस समय पिताजी की दृष्टि क्षीण हो गई थी, अतः प्रत्येक मास की दूसरी या तीसरी तारीख को मुझे जमाखर्च का आँकड़ा पिताजी को सुनाना पड़ता था। पहले तो मैं प्रत्येक खाते की जोड़ की रकम सुनाता था, फिर जिस कलम पर उन्हें शङ्का होती उसका तफसील पढ़ने की वे मुझे आज्ञा देते थे। उस समय जो खर्च उन्हें पसन्द नहीं होगा यह मैं जानता उसे टाल देता या झट से बाँचकर दूसरी कलम पढ़ने लगता था। पर यह बात उनके ध्यान में आए बिना नहीं रहती थी। इस कारण प्रत्येक महीने के पहले के दिन मुझे बड़ी चिन्ता में व्यतीत करने पड़ते थे, मैं ऊपर कह चुका हूं कि पिताजी को छोटी-से-छोटी बात भी पूछने और उसे ध्यान में रखने की आदत थी। फिर वह हिसाब का आँकड़ा हो, जमाखर्च की रकम हो, उत्सव की व्यवस्था हो, जायदाद बढ़ाने की बात हो या उसमें रद्दोबदल करना हो, कुछ भी हो, बिना पूछे वे नहीं मानते थे।

बोलपुर में नवीन बनवाया हुआ उपासना मन्दिर उन्होंने कभी नहीं देखा था। तो भी बोलपुर से आनेवाले लोगों से पूछ-पूछकर उन्होंने वहाँ का सब परिचय प्राप्त कर लिया था।

स्मरण शक्ति बड़ी ही विलक्षण थी। कोई बात समझ लेने पर फिर उनकी स्मरण शक्ति से उसका निकल जाना शक्य नहीं था।

अपनी भगवद्गीता की पुस्तक से उन्होंने अपने प्रिय श्लोकों का भाषान्तर करने और उनकी नकल करने के लिए मुझसे कहा था। घर में मुझे कोई पूछता भी नहीं था, पर प्रवास में जब ऐसे महत्व के काम सिपुर्द किए जाते थे, तब मुझे यह प्रसंग अपने लिये बड़ी धन्यता का प्रतीत होता था।

इस समय मेरे पासवाली नीले रङ्ग की वही पूरी हो गई थी और जिल्द बँधी डायरी की एक प्रति मुझे प्राप्त हुई थी।

मुझे अपनी कल्पना शक्ति के आगे कवि के रूप में खड़ा होना था। अतः बोलपुर में रहते समय जब मुझे कविता बनाना होता तो नारियल के वृक्ष के नीचे इधर उधर हाथ पाँव फैला कर कविता बनाना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

मुझे यही मालूम होता था कि इसप्रकार हाथ पाँव तान कर व अस्त व्यस्त रीति से पड़कर कविता करना ही कवित्त का सच्चा मार्ग है। इसी प्रकार कड़ी गर्मी में रेतीली जमीन पर पड़कर 'पृथ्वीराज-पराभव' नामक वीररस प्रचुर कविता मैंने बनाई। उसमें वीररस ओत प्रोत भरा था। तो भी उस कविता का अन्त शीघ्र ही गया। अर्थात् उस डायरी ने भी अपनी बहिन उस नीली वही के मार्ग का अनुसरण किया। उसका पता भी नहीं कि वह कहाँ खो गई।

हम बोलपुर से चलकर रास्ते में साहबगंज, दीनापुर, इलाहाबाद और कानपुर में थोड़े थोड़े दिन ठहरते हुए अमृतसर आ पहुँचे।

रास्ते में एक घटना हुई। वह मेरे स्मृति पटल पर अभी तक मौजूद है। एक बड़े स्टेशन पर हमारी गाड़ी रुक गई। तब एक

टिकिट कलेक्टर आया और उसने हमारी टिकिटें काटीं। वह मेरी ओर अजब तरह से देखने लगा। उसपर से ऐसा मालूम हुआ कि उसे कुछ सन्देह हुआ। वह चला गया और फिर अपने एक साथी के साथ आया और हमारे डब्बे के सामने कुछ चुलबुलाहट करके वे दोनों फिर चले गए। अन्त में स्वयं स्टेशन मास्टर आया और उसने मेरा आधा टिकिट देखकर पूछा कि क्या इस बालक की अवस्था बारह वर्ष से अधिक नहीं है?

पिताजी ने कहा 'नहीं'।

उस समय मेरी अवस्था ग्यारह वर्ष की थी, परन्तु अवस्था की अपेक्षा मैं अधिक बड़ा दिखाता था।

स्टेशन मास्टर ने कहा कि तुम्हें उसका भाड़ा पूरा देना चाहिए। पिताजी के नेत्र लाल हो गए। पर एक भी शब्द न कहकर उन्होंने अपनी पेटी में से एक नोट निकाल कर स्टेशन मास्टर को दिया। उसने नोट का खुर्दा मेरे पिताजी को लाकर दिया। पिताजी ने लेकर तुच्छतादर्शक मुद्रा से उसके आगे फेंक दिया। तब संशय की क्षुद्रता इसप्रकार प्रकट होते देख लज्जा से स्टेशन मास्टर वहां का वहाँ स्थगित हो गया।

अमृतसर का स्वर्ण मन्दिर, स्वप्न के समान मेरी आंखों के आगे आता है। सरोवर के मध्यभाग में विराजमान गुरु दरबार को मैं अपने पिता के साथ में सुबह के वक्त कई बार गया था। वहां पवित्र गीता की अखण्ड ध्वनि सदा होती रहती थी। कभी कभी उपासकों के बीच में मेरे पिता भी बैठ जाते और उनके साथ-साथ स्तुति स्तोत्र पढ़ने लगते थे। एक परकीय गृहस्थ को इसप्रकार मिलते देख वहाँ वालों को आनन्द होता था। शकर

तथा मिठाई के प्रकार का बोझ लेकर हम अपने डेरे पर लौट आते थे।

एक दिन पिताजी ने उक्त उपासना गीत गानेवालों में से एक मनुष्य को अपने स्थान पर बुलाकर उससे उन पवित्र गानों में कुछ गाने सुने। उसे जो बिदाई दी गई, उससे वह खूब संतुष्ट हुआ होगा, इसमें सन्देह नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि गवैयों ने हमारा इतना पीछा किया कि हमें अपनी रक्षा के लिए कठोर उपायों को काम में लाना पड़ा। जब उन गवैयों को मालूम हुआ कि हमारे स्थान पर आने की सख्त मनाही है, तब वे हमें रास्ते में ही गांठने लगे। सुबह हम ज्योंही फिरने को जाते, त्योंही हमें कन्धे पर तम्बूरा लटकाए हुए लोग मिलते। उन्हें देखते ही वधिक की बन्दूक की नली देखकर, जिस प्रकार शिकार की अवस्था होती है उस प्रकार हमारी शिकार की अवस्था होती। तम्बूरे की आवाज सुनते त्योंही घबड़ाकर भागना शुरू कर देते थे तभी हमारी उन लोगों से रक्षा हो पाती थी।

सध्या होते ही पिताजी बगीचे की ओर के बरामदे में आ बैठते और मुझे गाने के लिये बुलाते थे। चन्द्र का उदय हो गया है, उसकी किरणें वृक्ष-राजी के बीच में से बरामदे की फर्श पर पड़ रही है और ऐसे समय में मैं विहग राग गा रहा हूँ।

पिताजी उस समय गर्दन नीची डालकर और अपने हाथ में हाथ मिलाकर एकान्त चित्त से सुना करते थे। सायंकाल के उस दृश्य का आज भी मुझे अच्छी तरह स्मरण है।

मैं ऊपर एक जगह लिख आया हूँ कि जब मैंने एक बार भक्ति के सम्बन्ध में कविता बनाई थी और उसका वर्णन मैं श्रीकंठ बाबू ने पिताजी से किया था, तब बड़े आनंद से उन्होंने उनकी हँसी उड़ाई थी। आगे जाकर उसकी भरपाई किस

तरह हुई उसका मुझे अच्छी तरह स्मरण है। माघ मास में एक उत्सव के समय पढ़े जानेवाले स्तोत्र में-से बहुत-से मेरे ही रचे हुए थे।

इस समय पिताजी चिन्सुरा में रुग्ण शय्या पर पड़े हुए थे उन्होंने मुझे और मेरे भाई ज्योति को बुलाया। मुझे अपने बनाए हुए स्तोत्र हारमोनियम पर गाकर सुनाने की आज्ञा दी और ज्योति को हारमोनियम बजाने के लिये कहा। उनमें-से कितने ही गानें मुझे दो-दो बार गाने पड़े थे।

गायन समाप्त होने पर उन्होंने मुझसे कहा था कि अपने देश के राजा को यदि अपनी भाषा का ज्ञान होता और उसके साहित्य की मधुरता वह समझता होता तो उसने अवश्य ही कवि का सम्मान किया होता। परन्तु वस्तु-स्थिति इसप्रकार न होने से यह काम मुझे ही करना पड़ेगा, यह कहकर उन्होंने मेरे हाथ में एक दर्शनी हुँडी दी।

मुझे सिखाने के लिये 'पीटर पार्ले' नामक पुस्तकमाला की कुछ पुस्तकें पिताजी साथ लाए थे। शुरू में ही बेंजामिन फ्रेंकलिन नामक पुस्तक उन्होंने चुनी। उन्हें यह मालूम हुआ कि इस पुस्तक से शिक्षा और मनोरंजन दोनों होंगे।

परन्तु हमारे पढ़ना शुरू करने के थोड़े ही दिनों बाद उन्हें अपनी भूल मालूम हुई। बेंजामिन फ्रेंकलिन अत्यन्त व्यवहार दक्ष मनुष्य था। उसके हिसाबी नीति तत्वों की सकुचितता से मेरे पिता को उसके प्रति घृणा हो गई थी। कुछ बातों के सम्बन्ध में उसका ऐहिक सयानपन देखकर पिताजी इतने अधीर हो जाते थे कि उनके प्रति निन्दाव्यंजक शब्द कहे सिवा उनसे रहा नहीं जाता था।

इसके पहले व्याकरण के नियमों को कण्ठस्थ कर लेने के

[illegible] सीखा था। प्रवास के सम[illegible] [illegible] पुस्तक का दूसरा भाग पढ़ [illegible] ही शब्दों के रूप भी बना [illegible] भाषा का जो मुझे अधि ज्ञान हो गया था, उससे इस समय मुझे बहुत सहायता प्राप्त हुई पिताजी ने मुझे प्रारम्भ से संस्कृत में लिखने का प्रयत्न करने लिए बहुत उत्तेजन दिया था। संस्कृत में मिले हुए शब्दों में कहीं-कहीं अम् और अम् का मनमाना उपयोग करके मैं बड़े-बड़े सामाजिक पद बना डाले थे। उन्हें देवभाषा का खिच ही कहना चाहिए। परन्तु मेरी इस उत्कण्ठा से पिताजी ने मेरा कभी उपहास नहीं किया।

इसके बाद 'प्रोक्टर' की सुलभ ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकें हमने पढ़ीं। इन पुस्तकों को पिताजी ने सरल भाषा के द्वारा मुझे समझा दिया था फिर इन पुस्तकों का मैंने बङ्गाली भाषा में अनुवाद किया।

मेरे पिताजी, अपने स्वतः के उपयोग के लिए जो पुस्तकें लाए थे उनमें 'Givin and come' 'गिविन और रोम' नामक एक दस बारह भागों की बड़ी पुस्तक भी थी। इस पुस्तक की ओर मेरा ध्यान खिंचा करता था। यह बड़ी नीरस पुस्तक थी। मादकता तो उसमें नाम-मात्र को भी न थी। मुझे उस समय यह विचार उत्पन्न होते थे कि मैं अभी छोटा हूँ, असमर्थ हूँ और परावलम्बी हूँ. अतः मुझे पुस्तकें बाचना भर है, पर जिन्हें बिना अपनी तीव्र इच्छा के पुस्तकें बांचने की जरूरत नहीं है, वे अवस्था प्राप्त मनुष्य, पुस्तकें बांचने का कष्ट क्यों उठाते हैं!

१४

हिमालय के ऊपर

लगभग एक माह तक अमृतसर में रहकर १५ अप्रैल के करीब हम लोग डलहौजी हिल्स की ओर जाने के लिए निकले अमृतसर में पीछे तो हम बिल्कुल ही ऊब गये थे और ऐसा दिल होने लगा कि यहाँ से कब रवाना हों। क्योंकि हिमालय पर जाने की मुझे बहुत उत्कंठा थी।

झंपान में बैठकर पहाड़ी पर चढ़ते समय दोनों ओर पर्वत श्रेणियाँ मिलती हैं। वसंत ऋतु के सुन्दर पुष्पों से उस समय वे खूब सुशोभित थीं। प्रतिदिन सुबह दूध-रोटी खाकर हम चलने को निकल पड़ते थे और सूर्यास्त के पहिले रात्रि में विश्राम करने के लिये आगे के मुकाम के बंगले में आश्रम लेते थे। सारे दिन भर मेरे नेत्रों को विश्राम नहीं मिलने पाता था। क्योंकि मैं समझता था कि जरा प्रमाद हुआ कि कुछ न कुछ देखने को रह जायगा। पहाड़ी की ओर ज्योंही हमारा रास्ता मुड़ता था, त्योंही हमें रमणीय शोभा देखने को मिलती थी। विशाल वन-वृक्षों की शोभा देखते ही बनती थी। तपोवन में वृद्ध ध्यानस्थ ऋषियों के चरणों में बैठकर एकाध छोटी आश्रम कन्या के खेलने के समान वृक्षों की छाया के नीचे से छोटे-छोटे से घघघवे काई-जमे पत्थरों पर से आवाज करते हुए गिरते

थे। ऐसे स्थानों पर झंपान उठानेवाले लोग विश्राम करने ठहर जाते थे। ऐसे स्थानों को देखकर मेरा तृषित अंतःकरण भीतर ही भीतर कहा करता था कि अरे! ऐसे रमणीय स्थान को पीछे छोड़कर आगे क्यों जा रहे हो? यहीं हम सदा के लिए क्यों नहीं रहते।

प्रथम दर्शन से बड़ा लाभ यह होता है कि उस समय मन को यह ज्ञान नहीं होता कि ऐसे-ऐसे अनेक दृश्य आगे आनेवाले हैं परन्तु जब मन को यह विश्वास हो जाता है कि आगे ऐसे बहुत से दृश्य देखने को मिलनेवाले हैं तो वह अपना सर्व लक्ष एक स्थान पर न लगाकर दूसरे दृश्यों के लिए भी रख छोड़ता है जब किसी वस्तु के अभाव का मन को विश्वास हो जाता है तभी वस्तु की कीमत अजमाने को उसकी कंजूसवृत्ति नष्ट होती है कलकत्ते के रास्तों में जाते समय जब कभी-कभी अपने आपको उस स्थानपर अपरिचित कल्पना करता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि लक्षपूर्वक अवलोकन न करने से अपने से दूर रहनेवाली कितनी ही ऐसी बातें हैं जिन्हें हम देख सकते हैं। अपरिचित और लोकोत्तर स्थानों के देखने के लिए मन को प्रेरणा करनेवाली चीज उस स्थान को देखने की तीव्र इच्छारूपी क्षुधा के अलावा दूसरी कोई नहीं है।

पैसे रखने की एक छोटी सी थैली पिताजी ने मेरे सुपुर्द कर दी थी। प्रवास में खर्च करने के लिए उन्होंने उसमें बहुत से पैसे रख दिए थे। उन्हें यह कल्पना करने का कोई कारण नहीं था कि उस थैली को सम्हाल रखने में मैं ही एक योग्य मनुष्य हूँ। उन्होंने यदि अपने नौकर 'किशोरी' के पास उसे रखा होता तो वह और अधिक सुरक्षित रह सकती थी। इसपर भी उन्होंने जो उसे मेरे पास रखा, इसमें मुझे उनका एक उद्देश यह दिखाता

है कि उससे मुझे कुछ शिक्षा प्राप्त हो। एक दिन ठहरने के स्थान पर पहुँचने के बाद वह थैली पिताजी को देना मैं भूल गया और वह टेबिल पर पड़ी रह गई। इस अपराध पर मुझे शब्दों की मार सहन करनी पड़ी।

प्रवास के मुकाम पर जब हम लोग डंडी से उतरते तब बंगले में से कुर्सियाँ बाहर लाने के लिये पिताजी आज्ञा देते थे। कुर्सियों के आ जाने पर हम उनपर बैठते थे। सन्ध्या का प्रकाश पड़ते ही पर्वतों के स्वच्छ वातावरण में तारागण स्पष्ट रीति से चमकने लगते थे। ऐसे समय में पिताजी मुझे नक्षत्रों का ज्ञान कराते थे अथवा ज्योतिषशास्त्र पर मुझसे बातचीत करते थे।

वेक्रोटा में जो घर ले रखा था वह उच्च शिखर पर था। मई मास को बहुत थोड़े दिन रह गए थे। तो भी वहाँ इतनी अधिक ठंढ थी कि शीत ऋतु का बर्फ वृक्षों से आच्छादित स्थानों पर अभी जमा हुआ ही था।

ऐसे स्थानों पर भी स्वतन्त्रता से मुझे घूमने-फिरने देने में पिताजी को बिलकुल भय नहीं मालूम होता था। हमारे बंगले के नीचे की ओर पास-पास लगे हुए देवदारू के वृक्षों से भरे पर्वत का सिकुड़ा परन्तु लम्बा भाग था। इस जङ्गल में लोहे की सामी लगी हुई लकड़ी लेकर मैं स्वच्छन्द होकर भागता रहता था। कहाँ तो वह वन वृक्षराजी, आकाश से जाकर लगे हुए राक्षस के समान दिखनेवाले बड़े-बड़े वृक्षों की छाया और शताब्दियों से जो शिर ऊंचा किए खड़े हुए हैं इतनी उनकी पुरातनता और कहाँ आजकल का एक लड़का, जो उन वृक्षों के तनों के आसपास निर्भय होकर स्वच्छन्द रीति से घूम रहा

है। उन वृक्षों की छाया में पैर रखते ही मुझे वहाँ किसी अन्य व्यक्ति के अस्तित्व का भान होता था।

मुझे जो कमरा दिया गया था, वह बंगले के एक सिरे पर था। बिछौने पर पड़े पड़े बिना परदोंवाली खिड़कियों में से तारागण के धुंधले प्रकाश में दूर दूर की हिममय पर्वत शिखरें लक-लक करती हुई मुझे दिखलाई पड़ती थीं। कभी-कभी निद्रा से यदि मैं अध-जगा हो जाता और देखता तो, पिताजी बरामदे में लाल रंग के दुशाले को चारों ओर लपेटे हुए उपासना करने के लिये बैठे हुए दिखलाई पड़ते थे। इस समय कितने बजे होंगे यह मैं निश्चित रूप में नहीं कह सकता था। जब इसके बाद एक नींद पूरी होकर मैं जागता था तो पिताजी मुझे अपने बिस्तरे पर जागते हुए दिखलाई पड़ते थे। इस समय भी कुछ रात्रि शेष रहती थी। संस्कृत के शब्दों के रूप लेने और उन्हें कंठस्थ करने के लिये यह समय नियत था। कड़ाके की ठंढ में रजाई में-से उठाना जी लेने के बराबर है। पिताजी की उपासना समाप्त हो जाने पर सूर्योदय के समय हम लोग दूध पीते थे। इसके बाद मैं उनके पास खड़ा रहता था और वे उपनिषदों का पाठ पढ़ते पढ़ते ईश्वर में संलग्न हो जाते थे।

फिर हम लोग घूमने के लिए जाते थे। परन्तु मैं उनके साथ चल कैसे सकता था। मेरे से बड़ी उम्र के लोग भी उनके साथ चल नहीं सकते थे। अतएव कुछ समय बाद उनके साथ चलने की इच्छा मुझे छोड़ देनी पड़ती थी और किसी समीपी आड़े-तिरछे पहाड़ी मार्ग से मुझे घर लौट आना पड़ता था।

पिताजी के लौट आने पर मैं उनसे अंग्रेजी सीखता था। दस बज चुकने पर बर्फ के समान ठंढा पानी स्नान के लिए मिलता था। पिताजी की आज्ञा के बिना चुल्लू भर भी गर्म

पानी यदि नौकर से माँगा जाय तो नहीं मिल पाता था। मुझे साहस बँधाने के लिए पिताजी कहा करते थे कि जब हम छोटे थे तब ठण्डे पानी से ही स्नान किया करते थे।

वहाँ दूध पीना भी एक तरह की तपश्चर्या थी। पिताजी को दूध बहुत प्रिय था और वे बहुत पिया करते थे। मुझमें यह अनुवंशिक गुण न होने के कारण कहो अथवा पहले वर्णन की हुई परिस्थिति में मेरा लालन-पालन होने के कारण कहो, मुझे दूध बिलकुल ही नहीं रुचता था। परन्तु दुर्दैव से मुझे भी एकदम दूध पीना पड़ता था। इस कारण मुझे नौकरों की कृपा पर अवलम्बित रहना पड़ता था। वे मेरे दूध का प्याला आधे से अधिक फेन से भर देते थे। उनकी इस कृपा के सम्बन्ध में मैं उनका बहुत आभारी रहता था।

दोपहर का भोजन हो चुकने पर फिर मेरा पढ़ना शुरू होता था। परन्तु हाड़-मांस के इस शरीर को यह बात सहन नहीं होती थी। सुबह की बाकी रही हुई निद्रादेवी इस समय अपना बदला चुकाने की इच्छा करती और मैं ऊंघने लगता था। यह देखकर पिताजी मुझे छोड़ देते थे। उनके छोड़ते ही निद्रा भी न मालूम कहां भाग जाती थी और हमारी सवारी फिर पर्वतों पर घूमने को निकल पड़ती थी।

हाथ में सोटा लेकर पर्वत की एक शिखर पर-से-दूसरी शिखर पर मैं भटकता रहता था। पिताजी ने मेरे इस काम में कभी भी रोक-टोक नहीं की। उन्होंने हमारी स्वतंत्रता में कभी हाथ नहीं डाला। मैंने अनेक बार उन्हें न रुचनेवाली बातें कहीं और की हैं, यदि वे चाहते तो एक शब्द से मुझे उन बातों को कहने या करने से रोक सकते थे, परन्तु उन बातों की अयोग्यता,

मेरी सदसद् विवेकबुद्धि द्वारा मुझे मालूम होने तक उनके सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उन्हें ठीक मालूम होता था। उन्हें पसन्द नहीं था कि हम किसी बात को योंही ठीक मान लें। उनकी यही इच्छा रहती थी कि हम लोगों को किसी बात की सत्यता का निश्चय हो जाने पर ही सत्य पर मन-पूर्वक प्रेम के सिवा कोरी अनुमति निष्फल है। वे यह भी जानते थे कि सत्य रास्ता को छोड़कर कितना भी भटका क्यों न जाय तो भी आखिर वह पुनः मिले बिना नहीं रहता। मन की प्रतीति हुए बिना बलात्कारपूर्वक या अन्धश्रद्धा या विश्वास से सत्य का ग्रहण करने से सत्य के अन्तरतम भाग में प्रवेश करने का मार्ग बिल्कुल बन्द हो जाता है।

तारुण्य अवस्था में अभी मेरा प्रवेश ही हुआ था मुझे यह कल्पना उठी कि बैलगाड़ी के द्वारा बड़े मार्ग से ठेठ पेशावर तक प्रवास किया जाय। मेरे इस प्रस्ताव का अन्य किसी ने समर्थन नहीं किया और उस कल्पना को अव्यवहार्य ठहराने के लिए उसमें निःसंशय अड़चनें भी बहुत थीं। परन्तु जब पिताजी से इस सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई तब उन्होंने उत्तेजना देते हुए कहा कि 'बड़ी मजेदार कल्पना है, रेलगाड़ी से प्रवास करना सचमुच प्रवास नहीं है।' इसके साथ ही साथ उन्होंने घोड़े पर या पैदल किए हुए अपने निज के प्रवास का वर्णन भी किया। उन्होंने वर्णन में यह बिल्कुल नहीं आने दिया कि प्रवास में यह बिलकुल ही नहीं आने दिया कि प्रवास में त्रास होता है या संकट आते हैं।

एक दूसरे अवसर पर नीचे लिखी हुई घटना हुई। उस समय पार्कस्ट्रीटवाले मकान में पिताजी रहते थे और मुझे आदि ब्रह्म समाज का मन्त्री बने थोड़े ही दिन हुए थे। मैं पिताजी के

पास में गया और मैंने उनसे कहा कि–मुझे समाज में दूसरा जाति के लोगों को त्याज्य समझकर सिर्फ ब्राह्मण द्वारा उपासना होने का जो रिवाज है वह पसन्द नहीं है। पिताजी ने मुझे यह रिवाज यदि हमसे हो सके तो रोकने की बिना किसी प्रकार आना-कानी किए आज्ञा दे दी। हमें अधिकार तो मिल गया पर पीछे से हमें मालूम हुआ कि मेरे में यह रिवाज बन्द करने की बिलकुल ही शक्ति नहीं थी दोष का तो मुझे ज्ञान था, पर उसके निराकरण की मुझमें शक्ति न थी और न योग्य मनुष्य को खोजकर उसके द्वारा काम निकलवा लेने की ही मुझमें शक्ति थी। किसी बात को तोड़कर उसके स्थान पर दूसरी को रखने के साधन भी मेरे पास नहीं थे। योग्य मनुष्य प्राप्त होने तक न होने की अपेक्षा कोई पद्धति का होना ही श्रेष्ठ है। पिताजी का हो उक्त पद्धति के संबंध में यही मत रहा होगा, परन्तु मेरे आगे मार्ग की अड़चनों को रख कर हमें निराश करने का उन्होंनेकभी भी प्रयत्न ही नहीं किया।

जिसप्रकार पर्वतों में मनमानी तरह से भटकने की उन्होंने हमें स्वतन्त्रता दे रखी थी, उसीप्रकार तत्वान्वेषण के काम में भी अपना मार्ग आप खोजने को हमें स्वतन्त्रता थी। मैं भूल करूंगा, इस भय से वे कभी मेरे आड़े नहीं आए और न मेरे संकट में फँस जाने का उन्हें भय ही हुआ। उन्होंने मेरे आगे आदर्श रख दिया था, पर व्यवस्था का दण्ड उनके हाथ में न था।

प्रवास में मैं बीच-बीच में पिताजी से घर के सम्बन्ध में बातचीत करता था। घर से यदि किसी का मेरे नाम पर पत्र आता, तो मैं उन्हें बतलाता था। हमें ऐसा पक्का विश्वास है कि जो मजेदार बातें उन्हें दूसरों से नहीं मालूम होती थीं, उनके मालूम होने का मैं एक साधन बन गया था। मेरे बड़े भ्राता के पिताजी के नाम पत्र आते थे। उन्हें बाँचने के लिये पिताजी

ने हमें मंजूरी दे दी थी। हमें पिताजी को किसप्रकार पत्र लिखना चाहिये, यह सिखाने का वह मार्ग था। क्योंकि बाह्य रीति-रिवाज और शिष्टाचार का महत्व उन्होंने किसी भी प्रकार कम नहीं होने दिया था।

हमें स्मरण है कि एक बार मेरे दूसरे बड़े भाई का पिताजी के पास पत्र आया था, जिसमें उन्होंने अपनी नौकरी के सम्बन्ध में और काम की ज्यादती के सम्बन्ध में शिकायतें करते हुए लिखा था कि मरने तक का अवकाश नहीं है। इस पत्र में उन्होंने संस्कृत शब्दों की भरमार कर दी थी। पिताजी ने इस पत्र का अभिप्राय समझाने की हमें आज्ञा दी। हमें जैसा मालूम हुआ वैसा अर्थ मैंने पिताजी को समझाया। परन्तु उन्होंने कहा कि इसका अधिक सहज रीति से निकलनेवाला अर्थ दूसरा ही है। किन्तु मैं अपने मिथ्याभिमान के वश अपने ही अर्थ को ठीक बतलाता रहा और उक्त पत्र के मुद्दे के सम्बन्ध में वाद-विवाद करने लगा। यदि दूसरा कोई होता तो हमें डाँटकर बन्द कर देता। परन्तु पिताजी ने शांतिपूर्वक मेरा कहना सुन लिया और अपना कहना हमें समझा देने का खूब प्रयत्न किया।

कभी-कभी पिताजी बड़ी मजेदार बातें मुझसे कहा करते थे। उनके समय के कई रंगीले तरुण लोगों के सम्बन्ध में उन्हें बहुत-सी बातें मालूम थीं। वे कहा करते थे कि उस समय कुछ सुन्दर लोगों के अङ्ग इतने नाजुक हो गए थे कि ढाके की मलमल की किनारें भी उन्हें चुभा करतीं और इस कारण मलमल की किनार निकालकर पहनने का रिवाज उस समय शिष्टजनसम्मत बन गया था।

मैंने अपने पिताजी के मुँह से दूध में पानी मिलानेवाले एक ग्वाले का वर्णन पहले पहल सुना, तब हमें बड़ा आनन्द

आया। लोगों को उस ग्वाले के सम्बन्ध में शंशय था कि यह दूध में पानी मिलाता है। इस समय एक ग्राहक ने अपने नौकर को चेताया कि आगे से ऐसा न हो, जरा ध्यान रखना। इस कहने का फल यह हुआ कि दूध और अधिक पानी मिला हुआ आने लगा। अन्तमें जब ग्राहक ने स्वतः ग्वाले को इस सम्बन्धमें कहा तो ग्वाले ने उत्तर दिया कि यदि देख-रेख करनेवालों की संख्या बढ़ी और उनको हमें सन्तुष्ट करना पड़ा, तो दूध आधिकाधिक नीले रंग का होकर अन्त में उसमें मछलियाँ पैदा होने का अवसर आवेगा।

इसप्रकार पिताजीजी के पास कुछ दिनों तक रहने के बाद उन्होंने हमें किशोरी नौकर के साथ वापस भेज दिया।

१५

मेरा घर पर वापिस आना

घर में रहते समय नौकरों के जुल्मी राज्य की जिस शृङ्खला ने मुझे बांध रखा था, वह शृङ्खला घर से बाहर पैर रखते ही टूट गई थी। यह शृंखला मुझे फिर बद्ध नहीं कर सकी। घर वापिस आने पर मुझे थोड़े से अधिकार प्राप्त हुए। इसके पहले तक तो मेरी यह स्थिति थी कि पास रहने के कारण मेरी ओर किसी की दृष्टि ही नहीं जाती थी। परन्तु अब कुछ दिनों तक दृष्टि से

के समय ही मार्ग में होने लगा था। नौकर साथ लेकर हुए मैं अकेला ही घूमने को जाया करता था। शरीर की दृढ़ता और मन के उत्साह से मेरे चेहरे पर प्रकार से तेज झलकने लगता था। मेरी टोपी पर मोहक बेल-बूटे होने के कारण मैं तुरन्त लोगों की निगाह में भर जाता था। टोपी के कारण मुझे जो-जो गृहस्थ मिले उन सबों ने मेरी बड़ी ही हँसी उड़ाई। मैं घर लौट आया। मेरा यह लौटकर आना केवल प्रवास से लौटकर आना ही नहीं था, किन्तु एक तरह से नौकरों की कोठरी में-से निकलकर अपने घर के अन्तरभाग में अपने योग्य स्थान पर वापस आना था। मेरी माता के कमरे में जब सब घर की स्त्रियां एकत्रित होतीं, तब मुझे सम्मान मिलता था और सबसे छोटी भौजाई मेरे ऊपर प्रेमामृत का सिंचन भी करने लगती थीं।

बाल्यावस्था में स्त्री जाति की प्रेमपूर्ण सार संभाल की आवश्यकता होती है। प्रकाश और दया के समान ही संभाल की आवश्यकता होने के कारण छोटे बालक बिना पना दिए ही इसे प्राप्त कर लेते हैं। बालक ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, त्यों-त्यों स्त्रियाँ अपने फैलाये हुए अवस्थारूपी जाल से अपना छुटकारा कराने को अधिक उत्सुक होते हैं, ऐसा कहना अधिक योग्य है। परन्तु जिस अवस्था में सार संभाल होने की अधिक आवश्यकता है उस अवस्था में जिस दुर्दैवी मनुष्य की सार-संभल नहीं हो, उसकी बहुत अधिक हानि होती है। मेरी भी ऐसी ही स्थिति थी। अब नौकरों से छुटकारा हुआ और अन्तर्गृह में मातृ प्रेमामृत की

मेरे पर वर्षा होने लगी, ऐसे आनन्द का अनुभव और ज्ञान मेरी अंतरात्मा को विना हुए कैसे रह सकता था ?

जब तक अंतर्गृह की दालानों में स्वतन्त्रतापूर्वक मैं आ-जा नहीं सकता था, तब तक वे इन्द्रभवन से ही प्रतीत होते थे। मुझे बाहर से कारागृह के समान दिखलाई पड़नेवाला अन्तर्गृह स्वतन्त्रता की जन्मभूमि ही मालूम पड़ता था। जहां न तो पाठशाला थी और न अध्यापक ही थे। जहाँ किसी को भी अपनी इच्छा के विरुद्ध काम करने की जरूरत न थी। उस भय रहित एकान्त स्थान के निकम्मेपन के आस-पास मुझे गूढ़ता फैली हुई प्रतीत होती थी। वहां किसी को भी अपने काम का हिसाब देने भी जरूरत न थी, यह बात विशेषकर मेरी सबसे छोटी बहिन को लागू पड़ती थी। वह हमारे साथ नीलकमल पंडित के पास पढ़ा करती थी। वह चाहे अपना पाठ ठीक तरह याद करे या न करे, पर पंडितजी के साथ के उसके बराबरी के व्यवहार में बिलकुल ही अन्तर नहीं पड़ता था। जब दस बजे हम भोजन से निवृत्त होकर शाला जाने की गड़बड़ में होते, तब वह अपनी खुली चोटी को पीठ पर इधर-उधर हिलाती हुई कभी भीतर जाती, तो कभी बाहर आती और अपने का साथ में ले चलने के लिए हमें रोका करती थी। इतने पर भी कभी हमारे साथ स्कूल जाती भी नहीं थी।

जब सुवर्णालंकारों से सुशोभित एक नवीन वधू हमारे घर में आई तब तो अन्तर्गृह की गूढ़ता पहिले से भी अधिक गंभीर हो गई वह आई दूसरे घर से थी, पर वह हमारे में से एक बन गई थी। अपरिचित होने पर भी पूर्ण परिचित हो गई थी। इस नव वधू की ओर मेरा चित्त आकर्षित होने लगा। इसके साथ

में मित्रता करने के लिये मैं अधिक उत्सुक हो गया था। मैं वहां युक्ति प्रयुक्ति और प्रयास से उसके पासमें किसी तरह से जाता कि इतने में ही मेरी वही छोटी बहिन आ धमकती और तुम लड़के का यहां क्या काम है आओ, बाहर जाओ ऐसा कहकर वह मुझे वहां से निकाल देती थी। इस अपमान और निराशा के कारण मेरे हृदय को बड़ा धक्का बैठता था। उनके कमरे के दरवाजे की संधियों में-से उनके भीतरी खेलों को हम क्या कोई भी अच्छी तरह से देख सकते थे। पर उन लोगों के चित्र-विचित्र भपकेदार खिलौनों का स्पर्श करने के ही जब हम पात्र नहीं थे तब फिर उनमें-से खेलने के लिए एक खिलौना मांगने का साहस भला हमें क्योंकर हो सकता था। हम लड़कों को कभी न मिलनेवाली आश्चर्यजनक वस्तुएँ अन्तर्गृह में होने के कारण हमें अन्तर्गृह अधिकाधिक प्रिय मालूम होता और उसकी ओर चित्त का अधिक झुकाव भी होता था।

इसप्रकार बारंबार अन्तर्गृह से निकाले जाने के कारण मैं इन सब वस्तुओं से दूर पड़ गया था। गहन सृष्टि के समान अन्तर्गृह भी मेरी शक्ति के बाहर की चीज बन गया था। इसी कारण मेरे मन पर चित्र के समान उसकी छाप पड़ गई थी।

रात्रि के नौ बजे, अघोर बाबू के पास पढ़ लेने के बाद मैं सोने के लिये भीतर जाता था। बाहर के दालानसे भीतर को दालान तक का जाने का एक लंबा रास्ता था। इस रास्ते में टिमटिमाता हुआ दीया टँगा रहता था। इस रास्ते के अन्त में चार-पांच सीढ़ियां थीं, इनपर उस दिए का उजाला नहीं पड़ा करता था। इन सीढ़ियों परसे उतरकर भीतरके पहले चौकमें जाना पड़ता था। इन सीढ़ियों पर से चौक के आस पासमें बरामदा था, जिसके पश्चिम के कोने में

पूर्वकी ओरसे चन्द्र का प्रकाश पड़ा करता था। इसके सिवाय और सब जगह अंधकार व्याप्त रहता था। इस चन्द्र-प्रकाश में घर की नौकर स्त्रियाँ एकत्रित होतीं और पैर फैलाकर रुई की बत्ती बटा करतीं और अपने घर-द्वार की बातें किया करती थीं. ऐसे अनेक चित्र मेरे हृदय-पट पर नक्श हैं।

भोजन के बाद और सोने के पहले हम इसी बरामदे में हाथ-पैर धोया करते थे। फिर अपने लम्बे-चौड़े बिछौने पर पड़ जाते थे। इसी समय तिकरी या शकरी नाम की एक दाई आती और कहानियाँ या कविता कहकर हमें सुनाने का प्रयत्न करती थी। उस कहानी के खतम होते ही चारों ओर सूनसान हो जाता था। इससमय मैं दीवाल की ओर मुंह करके पड़ा रहता. चूना निकल जाने के कारण दीवाल में जो कहीं-कहीं काले और सफेद खड्डे हो गये थे उनको देख-देख मैं सोते-सोते उनमें-से काल्पनिक चित्र बनाया करता था। कभी-कभी जब मेरी आँख खुल जाती, तो स्वरूप नामक वृद्ध चौकीदार बरामदे के आस-पास में फिरता और गश्त लगाकर जो आवाज देता वह भी हमें सुनाई पड़ती थी।

हिमालय से लौटकर आने पर युग परिवर्तन हो गया था। मैं जिस मान-सम्मान की आकांक्षा करता था और जिसकी मेरे मन में बड़ी उत्कंठा थी, वह इस अपरिचित स्वप्न-सृष्टि रूप अन्तर्गृह से मुझे मिलना प्रारम्भ हो गया था और वह भी क्रम-क्रम नहीं, एकदम मानों मेरे पहले सब असन्तोषों को मिटाना ही हो। इसी कारण मेरा दिमाग भी आसमान पर चढ़ गया।

इस छोटे से यात्री के पास प्रवास वर्णन का बड़ा भारी संग्रह था। पुनरुक्ति हुई कि वास्तविकता में शैथिल्य आया और वह

कविता को जगह-जगह गाते फिरते तो कितनी मजा आती। किशोरी से मैंने बहुत से पद्य सीखे थे। उक्त स्त्री-सम्मेलन के श्रोताओं को सूर्य के तेजोमंडल अथवा शनि, चन्द्र आदि ग्रहों के वर्णन की अपेक्षा यह पद अधिक प्रिय मालूम होते थे और उन्हें सुनने के लिये वे बहुत आग्रह भी किया करती थीं।

घर की दूसरी औरतों को रामायण के कृत्तिवास कृत बंगाली अनुवाद से ही सन्तुष्ट रहना पड़ता था। वे मूल ग्रन्थ का अनुभव करने में असमर्थ थीं। मैंने अपनी माता से कह रखा था कि कि मैं पिताजी के पास बाल्मीकि महर्षि-कृत मूल रामायण पढ़ा करता था। उसमें सब संस्कृत-ही-संस्कृत है। मेरी माता इस समाचार से अपने आपको धन्य समझती और मुझे बड़ा कर्तव्यशील बतलाती वह मुझसे कहा करती कि अरे उस रामायण में-से मुझे भी कुछ सुना।

पर मेरा तो उस रामायण का वांचन नाममात्र को ही हुआ था। संस्कृत पुस्तक में रामायण के उदाहरण दिये गये थे। मैंने उतनी ही रामायण पढ़ी थी और वह भी मैं अच्छी तरह समझ भी नहीं पाया था। माता के कहने पर जब मैंने इस भाग को फिर देखा तो मैं थोड़ा बहुत समझा हुआ भी भूल गया हूँ—ऐसा मालूम पड़ा। जिसे मैं यह समझता था कि मुझे अच्छी तरह याद है वही मैं भूल चुका था। इतने पर भी अपने अद्वितीय पुत्र की बुद्धि के पराक्रम देखने की इच्छा रखनेवाली माता से मुझे यह कहने का साहस नहीं होता था कि मैं पढ़ा-पढ़ाया भी भूल गया हूं। आखिर मैंने ज्यों त्यों माता को पढ़ सुनाया। मैंने जो अर्थ किया वह महर्षि के अर्थ से बहुत ही भिन्न मैं समझता हूं कि माता से प्रशंसा प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले बालक के साहस पर बस मृदु अन्तःकरण के

वह अपने समान दूसरों को भी मेरे इस आश्चर्यमय कार्य के आनन्द में हिस्सेदार बनाना चाहती थी। अतएव उनने आज्ञा दी कि तुझे यह द्विजेन्द्र (मेरे सबसे बड़े भाई) को सुनाना ही चाहिये

अब मैं घबड़ाया। मेरे गर्व परिहार का अवसर आते देख मैं बहाने बनाने लगा। परन्तु मेरी माता ने एक भी नहीं सुनी और द्विजेन्द्र को बुलवा ही तो लिया। द्विजेन्द्र के आने पर गद्‌गद् स्वर से कहने लगी कि देख 'रबी कितने अच्छे ढंग से रामायण बाँचता है, तू भी सुन।

मेरे लिये अब कोई गति नहीं थी। मुझे बाँचना ही पड़ा। मालूम होता है कि आखिर उस मधुसूदन को मेरे पर दया आ गई और वह गर्व परिहार करने के लिये उतारू नहीं हुआ। उस समय मेरे भाई को भी कुछ पढ़ने लिखने का जरूरी काम था। माता के बुलाने पर वह आ तो गया पर मेरे भाषान्तर के कार्य में उसने कुछ उत्सुकता नहीं दिखलाई अतः मेरे थोड़े से श्लोक बाँचते ही वह यह कहकर चला गया कि बहुत अच्छा है।

अन्तर्गृह में प्रवेश हो जाने के बाद मुझे शाला में जाकर पढ़ने का काम बहुत कठिन प्रतीत होने लगा। लड़केहँसी से छुटकारा कराने के लिये मैंने अनेक बहाने बनाए। इसके बाद मैं सेंट जुनियर स्कूल में भरती किया गया, पर वहाँ भी वही हालत थी।

सदर आते ही मेरे भ्राता मेरे सुधार के लिये यथोचित प्रयत्न

करते और फिर छोड़ देते। इसप्रकार कुछ दिनों तक चला। अन्त में उन्होंने मेरी आशा छोड़ दी। मेरी एक सबसे बड़ी बहिन थी। एक दिन उसने कहा कि "हम सबों को आशा थी कि रवी कोई बड़ा आदमी होगा।" पर इसने पूर्ण निराश कर दिया। मैं भी अनुभव करने लगा कि कुटुम्ब में अपनी कीमत कम होती जा रही है। इतने पर भी पाठशालारूपी चक्की के डंडे से अपने आपको बाँध लेने का मुझसे निश्चय नहीं हो सका। वास्तव में वह शाला चक्की ही थी। उसमें न केवल सौंदर्य ही नष्ट था, किन्तु रुग्णालय और जेल के समान घृणा एवं क्रूरता का संगम हो गया था।

सेंट जूनियर स्कूल की एक महत्वपूर्ण बात मुझे आज भी ज्यों-की-त्यों याद है। वह बात वहाँ के शिक्षकों के सम्बन्ध की है। यद्यपि सब शिक्षक एक ही वृत्ति के नहीं थे, विशेषतः हमारे वर्ग के शिक्षकों में तो सन्दस्त वृत्ति का अंश भी मुझे नहीं दिखाई पड़ता था। उन शिक्षकों में 'शिक्षण-यंत्र' की अपेक्षा मुझे कुछ भी भिन्नता नहीं दिखलाई पड़ी। यह शिक्षणयंत्र (शिक्षक) पहिले ही बलाढ्य है। यदि यह यंत्र धार्मिक बाह्य विधि रूपी पाषाण की चक्की से संलग्न हो जाय तो फिर तरुण बालकों का अन्तःकरण पिलकर शुष्क हुए बिना नहीं रह सकता बाह्य शक्ति से चालन पानेवाली तेल की घानी का यह सेंट जेनियर शाला एक उत्कृष्ट नमूना थी। तो भी उस शाला में कुछ ऐसी बातें थीं जिनमें मेरा मत वहाँ के शिक्षकों के सम्बन्ध में उच्च प्रति का था।

मेरी उक्त स्मृति "फादर डी पेनेरंड" के सम्बन्ध में है। हमसे उन का बहुत कम सम्बन्ध आता था। यदि मेरी स्मृति ठीक है तो मुझे इतना ही याद कि उन्होंने हमारे वर्ग के एक शिक्षक के

स्थान पर कुछ दिनों तक काम किया था। ये जाति के स्पेनिआर्ड थे। ऐसा मालूम होता था कि उन्हें अंग्रेजी बोलने में कुछ कष्ट होता था। इसीलिये शायद उनके पढ़ने की ओर लड़कों का बहुत कम ध्यान जाता था और इसपर उन्हें मन में कुछ दुःख भी हुआ करता था। इस दुःख को उन्होंने चुपचाप बहुत दिनों तक सहन किया। मुझे इनके प्रति बहुत सहानुभूति रहती थी और मेरे मन का खिंचाव इनकी ओर हुआ करता था। मैं नहीं कह सकता कि ऐसा क्यों हुआ करता था। वे कुछ नाक-कान से खूबसूरत भी नहीं थे, पर उनके चेहरे में ऐसा कुछ आकर्षण था कि मेरा मन उनकी ओर देखता मुझे ऐसा भान होता कि मानों उनकी आत्मा उपासना में लीन है और अन्तर-बाहर शान्तता ही फैली हुई है।

कापी लिखने के लिये आधे घंटे का समय नियत था। यह समय हाथ में कलम लेकर इधर-उधर देखने अथवा कुछ विचार करते हुए बैठे रहने में व्यतीत कर दिया जाता था। एक दिन फादर डी पेनेरंडा इस कापी के वर्ग में आए। वे हमारी बैठक के पीछे इधर-उधर घूम रहे थे। उन्होंने शायद यह देखा ही होगा कि बहुत समय तक मैंने कापी में कुछ नहीं लिखा। अतएव वे एकाएक मेरे पीछे ठहर गए और झुककर धीरे से उन्होंने अपना हाथ मेरे कंधे पर रख दिया और प्रेम से पूछा कि 'ठाकुर' क्या तेरी तबीयत ठीक नहीं है। प्रश्न अत्यन्त सीधा सादा था। पर यह अभी तक मेरी स्मृति पर ज्यों-का-त्यों मौजूद है।

इसके संबंध में दूसरे लड़कों का क्या मत था यह मैं नहीं कह सकता। पर मुझे तो उनमें परमात्मा के अस्तित्व का भान होता था और आज भी उनकी स्मृति मुझे परमात्मा के नितांत

रमणीय एवं प्रशान्त आलय में प्रवेश करने का परवाना दे रही है, ऐसा मालूम होता है।

इस स्कूल में और भी एक वृद्ध 'फादर' थे। इनपर भी सब बालकों का प्रेम था। इनका नाम 'फादर हेनरी' था। ये उच्च कक्षाओं को सिखाते थे। इस कारण मैं इन्हें अच्छी तरह नहीं जानता था। इनकी एक ही बात मुझे याद है। इन्हें बंगाली भाषा आती थी। इन्होंने 'नीरोद' नामक एक बालक से पूछा कि तेरे नाम की व्युत्पत्ति बता।' बेचारा 'नीरोद' अपने नाम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अब तक बिल्कुल ही बेफिक्र था। इसलिए इस प्रश्न का उत्तर देने में वह आगा-पीछा करने लगा। इसके सिवाय गहन और अपरिचित शब्दों से भरे हुए कोष-ग्रंथों पर-से भला कौन अपने नाम की छान-बीन करेगा? यह कहाँ की खटखट? यह तो अपनी गाड़ी के नीचे दबकर ऊपर से गाड़ी निकलने के समान ही दुर्दैव की बात है। आखिर 'नीरोद' ने धृष्टतापूर्वक उत्तर दिया कि 'नि' यह अभाव दर्शक शब्द और रोद अर्थात् सूर्य की किरण, अतएव निरोद का अर्थ हुआ सूर्य की किरणों को नष्ट करनेवाला। *

---

* 'नीरद' संस्कृत शब्द है, जिसकी व्युत्पत्ति इसप्रकार होती है। नीर = पानी द = देनेवाला। बङ्गाली में इसका उच्चारण 'निरोद' होता है।

१६

घरू पढ़ाई

इन दिनों पंडित वेदान्त वागीश के सुपुत्र ज्ञानबाबू हमारे गृहाध्यापक थे। उन्हें जब यह मालूम हो गया कि स्कूल के शिक्षण-क्रम की ओर मेरा चित्त लगना अशक्य है और इसके लिये प्रयत्न करना निरर्थक है, तब उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना प्रयत्न करना बन्द कर दिया और दूसरे ही मार्ग का अवलंबन किया। उन्होंने मुझे महाकवि कालिदास का 'कुमार सम्भव' काव्य पढ़ाना प्रारम्भ किया और उसका अर्थ मुझे बताया। इसके बाद 'मैकबेथ' (इंगलिश काव्य) पढ़ाया। पहिले तो वे मुझे मूल पुस्तक का भाव बंगाली में समझा देते थे और फिर समझाए हुए अंश का मुझसे पद्यानुवाद कराते थे। जब तक पद्यानुवाद पूरा न होता, तब तक वे मुझे अपने कमरे में घेरे रखते थे। इस प्रकार उन्होंने मुझसे पूर्ण नाटक का अनुवाद कराया। सुदैव से यह अनुवाद कहीं खो गया और अपने इस कर्म के भार से मैं मुक्त हो गया।

हमारी संस्कृत पढ़ाई की प्रगति देखने का भार पं० रामसर्वस्व को सौंपा गया था। उन्होंने भी अपनी पढ़ाई से अपरत विद्यार्थी (मुझ) का व्याकरण सिखाने का निरुपयोगी काम छोड़ दिया और उसके बदले में हमें 'शाकुन्तल' पढ़ाना आरंभ

किया और एक दिन इन्हें मेरे द्वारा किया हुआ 'मैकवेथ' का पद्यानुवाद पं० विद्यासागर को बताने की इच्छा हुई और वे मुझे लेकर उनके घर गए। उस समय पं० विद्यासागर के पास राजकृष्ण मुकर्जी भी आए हुए थे और वहाँ बैठे थे। पुस्तकों से खचाखच भरे हुए उनके कमरे को देखते ही मेरी छाती धड़कने लगी और उनकी गंभीर मुद्रा देखकर मुझे भय भी हुआ। परन्तु साथ ही अपने काव्य के लिये ऐसे प्रतिष्ठित श्रोता मिलने का पहला ही प्रसङ्ग होने के कारण मुझे कीर्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा भी उत्पन्न हुई। यहाँ से मैं नवीन उत्साह प्राप्त कर घर को लौटा। राजकृष्ण बाबू ने मुझे विदूषक-पात्रों की भाषा व काव्य दूसरे रूपों में करने का ध्यान रखने की सूचना देकर अपना समाधान किया।

मेरी इस अवस्था में बंगाली साहित्य बहुत ही बाल्यावस्था में था। उस समय बाँचने और न बाँचने योग्य जितनी भी पुस्तकें थीं, शायद मैंने सभी पढ़ डाली थीं। उस समय केवल बालकों के पढ़ने-योग्य कोई भिन्न पुस्तकें नहीं बनी थीं। मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इसप्रकार के बाँचन से मेरी कोई हानि नहीं हुई। आजकल बालकों के उपयोग के लिये वांग्मय रूपी अमृत में मिलाकर उसकी स्निग्धता कम करने का प्रयत्न किया जाता है। इसप्रकार के साहित्य में केवल बालकों के ही योग्य बहुत सी बातों का वर्णन रहता है। परन्तु बालक बुद्धिशील मानवी प्राणी है, इस दृष्टिबिन्दु से उनके उपयोग में आने लायक कोई भी बात इसप्रकार के साहित्य में नहीं होती। बाल-साहित्य इसप्रकार का होना चाहिए कि उसमें कुछ बातें उनकी समझ में आने योग्य हों और कुछ आने योग्य न हों। हमें अपनी बाल्यावस्था में जो भी पुस्तक मिलती, उसे अथ से इति

तक हम बाँच डालते थे और उसमें का समझमें आया हुआ और न आया हुआ दोनों प्रकार का भाग हमारे में विचार-लहर पैदा करता था। बालकों की ज्ञान-शक्ति पर बाह्य सृष्टि का प्रत्याघात इसी रीति से हुआ करता है। बालक को पुस्तक की जो बात समझ में आ जाती है, उसे वह पचा लेता है और जो बात उसकी ग्राहक शक्ति के बाहर की होती है वह उस एक पैर आगे बढ़ाने में सहायता करती है।

दीनबन्धु मित्र के जो समालोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए, उन्हें बाँचने-योग्य अवस्था उस समय मेरी नहीं थी। हमारी एक रिश्तेदार स्त्री उन्हें पढ़ा करती थी। मैं कितना भी आग्रह करूँ तो भी वे पुस्तकें मुझे देने की उन्हें इच्छा ही न होती थी। उन्हें वे ताले में बन्द करके रक्खा करती थीं। उन पुस्तकों को अप्राप्य समझने से मुझे और भी अधिक आग्रह हुआ कि किसी तरह से इन पुस्तकों को प्राप्त करना और बाँचना चाहिए।

एक दिन दोपहर के समय वे ताश खेल रही थी। साड़ी के पल्ले से चाबी बँधी हुई थी, और उनके कंधे पर वह पल्ला पड़ा हुआ था। मैं ताश के खेल में कभी ध्यान नहीं लगाता था। इतना ही नहीं, मुझे इस खेल से घृणा भी थी। परन्तु उस दिन का मेरा व्यवहार मेरी इस मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध था। मैं खेल में तल्लीन हो गया था। जब वे बाई एक दाँव के जीतने की गड़बड़ में थी, तब मैंने चाबियाँ उनके पल्ले से खोलने का प्रयत्न किया, परन्तु मैं इस काम में निपुण नहीं था। अतः मैं पकड़ा गया। उन्होंने साड़ी के पल्ले को और चाबियों को अपनी गोदी में रख लिया, और फिर खेलने में तल्लीन हो गईं।

मुझे तो वह पुस्तक पढ़ने की धुन थी। अतः मैंने फिर एक तरकीब सोची। उस बाई को पान खाने का भी शौक था।

अतः मैंने उन्हें पान के बीड़े दिए। उन्हें खाकर वे थूकने को उठीं। इस बार उन्होंने अपने पल्ले को फिर कंधे पर डाल लिया। अब मैंने अपना काम सफाई से किया और उसमें सफल हुआ। उनकी चोरी हो गई। पुस्तकें मैंने पढ़ डालीं। जब उन्हें मालूम हुआ, तब ये मुझपर नाराज होने का प्रयत्न करने लगीं। परन्तु असफल ? क्योंकि उन्हें और मुझे दोनों को ही उस समय हँसी आ गई।

राजेन्द्रलाल मित्र, एक विविध विषय पूरित मासिक-पत्र प्रकाशित करते थे। वर्ष के सम्पूर्ण अंकों को एकत्रित कर उनकी जिल्द बँधा ली गई थी और वह मेरे तीसरे भाई की आलमारी में थी। इसे भी मैंने प्राप्त किया और पढ़ा। इसे बार-बार आद्यन्त पढ़ने से मुझे जो आनन्द होता था, उसकी स्मृति आज भी मुझे हुआ करती है। बिस्तरे पर चित्त लेट जाता और उस चौकानी पुस्तक को छाती पर रखकर पढ़ा करता था। उसमें से नावेल, व्हेल मछली का वर्णन, पूर्वकाल के काजियों का न्याय और कृष्णकुमारी की कथा आदि पढ़ने में कितने ही छुट्टियों के दोपहर का समय मैंने व्यतीत किया है।

आजकल हमारे यहाँ इसप्रकार के मासिक-पत्र प्रकाशित नहीं होते। आज-कल मासिक-पत्रों में या तो तत्वज्ञान विषयक शास्त्रीय चर्चा रहती है, या नीरस कहानियाँ या प्रवास वर्णन आदि की रेल-पेल। इंगलैंड में जिस प्रकार चेम्बर्स, कैसल्स, स्टैंड आदि सर्वसाधारण सुलभ, ध्येय का आडम्बर न कर विविध विषयों का ऊहापोह करनेवाले मासिक-पत्र प्रकाशित होते हैं, उस प्रकार हमारे यहाँ नहीं होते।

मैंने अपनी बाल्यावस्था में एक और छोटा-सा मासिक पत्र

पढ़ा था। इसका नाम था 'अबोध वाल्यूम'। इसका संग्रहित वाल्यूम (जिल्द) मुझे अपने सबसे बड़े भाई के पुस्तक-संग्रह में मिला। उसे मैंने उन्हीं के पठन-गृह के दक्षिण की ओर की गयी थी उसके द्वार की देहली में बैठकर कितने ही दिनों तक पढ़ा। बिहारीलाल चक्रवर्ती की कविता से मेरा प्रथम परिचय इसी पत्र से हुआ। इस समय तक मैंने जितनी कविता पढ़ी थी, उन सबों से मेरा मन इसी ने अधिक आवर्पित किया। उनके रसात्मक काव्य का अकृत्रिम-वीणा-रव मेरे अन्तर में बन्य-संगीत के द्वारा कल्लोल पैदा करता था।

इसी मासिक-पत्र में 'पॉल और व्हर्जिनीया' नामक पुस्तक का करुण रस पूरित अनुवाद पढ़ते-पढ़ते कितनी ही बार मेरे नेत्रों में पानी भर आया है। वह विस्मयकारक समुद्र, उसके किनारे पर वायु के झोंको से लहलहाता हुआ नारियल के झुण्ड का ऊपर से उतरने का वह दृश्य आदि वर्णन ने कलकत्ते में हमारे घर की छत गगी पर मृगजल की मोहिनी निर्माण कर दी थी। बंगाली बाल-वाचक और रंग-बिरंगे रुमाल को सिर पर लपेटी हुई 'व्हर्जिनी' इन दोनों में उस निर्जन द्वीप के वनपथ में जो रमणी प्रेमाकर्पण की कथा चल रही थी। वह एक अद्भुत ही थी।

इसके बाद जो पुस्तक मैंने पढ़ी, वह थी बंकिम बाबू का 'बंगदर्शन' नामक मासिक पत्र। इस पत्र ने बंगालियों के अन्तःकरण को आन्दोलित कर रखा था। पहिले तो नया अङ्क आने तक की बाट जोहना ही कष्टदायक होता था। उसके बाद जब वह आ जाता, तब पहिले बड़ों के हाथ में जाता और उनके पढ़ लेने तक मुझे जो बाट देखनी पड़ती, वह तो एकदम असह्य हो

जाती थी। आज कल तो इच्छा होने पर चाहे जो 'चन्द्रशेखर' और 'विषवृक्ष' को एक साथ पढ़ सकता है। परन्तु वह बहुत समय तक टिकनेवाला आनन्द अब किसी को नहीं मिल सकता, जब कि हर महीने उत्कंठित रहना पड़ता था। आज आयगा, कल आयगा—ऐसी मार्ग प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। कुछ हिस्सा इस अंक में पढ़ा और कुछ आगे के अङ्क में। उनका संदर्भ याद रखना पड़ता था और एक बार पढ़ लेने पर भी तृप्ति न होने तक बार-बार पढ़ने की इच्छा पूर्ण करनी पड़ती थी।

शारदा मित्र और अक्षय सरकार ने प्राचीन कवियों की कविताओं का संग्रह पुस्तक-माला के रूप में प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। इस माला के भी हम ग्राहक थे। इस माला की पुस्तकों को हमारे बड़े-बूढ़े नियमित रूप से नहीं पढ़ा करते थे, अतः इन पुस्तकों को प्राप्त करने में मुझे कठिनाई नहीं पड़ती थी। विद्यापति की मैथिली भाषा एक अजब तरह की और दुर्बोधता के कारण ही मेरा मन उसकी ओर आकर्षित हुआ करता था। मैं इसके संपादकों की टिप्पणियाँ बिना देखे ही अर्थ लगाने का प्रयत्न किया करता था और दुर्बोध तथा संदिग्ध शब्द जितनी-जितनी बार आते ही उतनी-उतनी बार उन्हें मैं संदर्भ सहित अपने नोट बुक में लिख लिया करता था। साथ में व्याकरण से सम्बन्ध रखनेवाली विशेष-विशेष बातें भी मैं अपनी समझ के अनुसार लिख लेता था।

१७

घर की परिस्थिति

मेरी बाल्यावस्था में मेरे हित की बात यह थी कि हमारे घर का वातावरण साहित्य और ललित कला से ओत-प्रोत भरा हुआ था। मिलने को आनेवालों से भेंट करने के लिये एक भिन्न-गृह था। जब मैं बिलकुल छोटा था, तब इस गृह के अन्दर बरामदे के कठड़े से टिककर किस तरह खड़ा रहता था, यह मुझे अच्छी तरह याद है। यहाँ रोज शाम को दीप-प्रकाश रखा जाता और सुन्दर-सुन्दर गाड़ियाँ आकर खड़ी होतीं। मिलने के लिये आनेवाले लोगों का बराबर आवागमन जारी रहता। भीतर क्या होता था, यह मैं अच्छी तरह नहीं समझ पाता था, तो भी प्रकाशित खिड़कियों के पास अन्धेरे में खड़ा होकर मैं बराबर भीतर की हालत देखता रहता था। यद्यपि भीतर का स्थान मुझसे कुछ अधिक दूर न था। परन्तु मेरे बाल्यावस्था के जगत से इसका अन्तर बहुत अधिक था। मुझसे बड़ा मेरा एक चचेरा भाई था। इसका नाम था गणेन्द्र। पंडित तर्करत्न का लिखा हुआ एक नाटक यह हाल ही में लाया था और उस नाटक को घर में जमाने का उसका काम पड़ा था। साहित्य और ललित कला के सम्बन्ध में उसके उत्साह की सीमा नहीं थी। वह उन लोगों में नेतृत्व के समान था में

दिखाई देनेवाले पुनरुज्जीवन को सब ओर से व्यवहार में आया हुआ देखना चाहते हैं। इसमें और इसके साथियों में पोशाक, साहित्य, संगीत, कला और नाट्य-सम्बन्धी राष्ट्रीय भावना बड़े जोश के साथ उत्पन्न हुई थी। इसने भिन्न-भिन्न देशों के इतिहास का सूक्ष्म रीति से परिशीलन किया था और बंगाली में इतिहास लिखने का काम प्रारम्भ भी कर दिया था, परन्तु उसके हाथ से यह काम पूरा न हो सका।

'विक्रमोर्वशी' नामक संस्कृत नाटक का अनुवाद करके उसने प्रकाशित किया था। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्तोत्रों में-से बहुत से स्तोत्र उसी के रचित हैं। यह कहने में कोई हानि नहीं है कि स्वदेश भक्तिपूर्ण कविता या पद बनाने का उदाहरण हमने उसी से लिया। यह उन दिनों की बात है जब कि वर्ष में एक बार हिन्दू मेला लगता और उसमें "हिन्दू भूमि का यश गाने में लज्जा हमको आती है" यह उसका बनाया हुआ पद गाया जाता था।

मेरा यह चचेरा भाई भर जवानी में मरा। उस समय मैं बहुत ही छोटा था। परन्तु जिसने उसे एक बार देखा होगा, वह उसकी लंबी, सुन्दर और प्रभावशाली आकृति कभी नहीं भूलेगा। समाज पर उसका अनिवार्य प्रभाव था। लोगों का मन अपनी ओर खींचने और उसे अपनी ओर बनाये रखने की कला उसे अच्छी तरह सिद्ध हो गई थी। जब तक उसकी आकर्षित मूर्ति किसी मंडल में होती, तब तक उसमें फूट पड़ना शक्य ही नहीं था। अपनी आकर्षण शक्ति के द्वारा जो अपने कुटुम्ब, ग्राम या नगर के केन्द्र स्थान बन जाते हैं, ऐसे लोगों में-से वह भी एक था। जिन-जिन देशों में राजकीय

व्यापारिक अथवा समाजिक संस्थाएँ उत्कर्ष रूप में रहती हैं, उन देशों में जन्म प्राप्त होने पर ऐसे लोग राष्ट्र के नेता बने बिना नहीं रहते। बहुत-से लोगों को एकत्रित कर एक प्रभावशाली और कर्तृत्ववान संघ बनाने में किसी विशेष प्रकार की प्रतिभा की आवश्यकता होती है। हमारे देश में इस प्रकार की प्रतिभा की व्यर्थ चली जाती है। आकाश से तारा तोड़कर उससे एक एक तुच्छ दियासलाई का काम लेने के समान ही हमारे देश में ऐसे व्यक्तियों का करुणास्पद दुरुपयोग होता है। गणेन्द्र के छोटे भाई गुणेन्द्र (सुप्रसिद्ध चित्रकार गगेन्द्र और अवनीन्द्र के पिता) की मुझे उनसे भी अधिक याद है। गणेन्द्र के समान इसने भी हमारे घर में अपना विशिष्टत्व स्थापन कर रखा था। वह अपने अन्तःकरण से अपने स्नेही, मित्र, कुटुम्बी, रिश्तेदार सभों का ध्यान रखता था। यही कारण था जो सदा उसके आस-पास बिना बुलाए ही लोगों का जमघट लगा रहता था, चाहे वह कहीं पर भी क्यों न हो। उन लोगों में वह ऐसा मालूम होता था कि मानो स्वयं आदर ही मूर्तिमान होकर अवतरित हुआ। कल्पना और बुद्धिमत्ता, इन दोनों गुणों का वह बड़ा आदर करता था और इसलिये उसमें सदा उत्साह झलका करता था। उत्सव हो, त्यौहार हो, विनोद या नाटक हो अथवा दूसरा और ही कुछ हो। जहाँ कोई नवीन कल्पना निकली कि उसने उसे आश्रय दिया। उसकी सहायता से वह कल्पना वृद्धि को प्राप्त होकर सफल हुए बिना नहीं रहती थी।

इस हलचल में शामिल होकर कुछ करने योग्य अवस्था अभी हमारी नहीं थी। परन्तु इससे उत्पन्न होनेवाले नवजीवन और आनन्द की लहरें हमारे तह आली और कौतूहल के द्वार। धक्का दिया करती थीं। मुझे ऐसी याद है कि हमारे

सबसे बड़े भाई के रचे हुए एक प्रहसन की तालीम चचेरे भाई के दीवान-खाने में दी जाती थी। मैं अपने घर के बरामदे के कठरे के पास में खड़ा रहता। वहाँ मुझे उसे दीवानखाने में जोर-जोर से हँसी चलती वह और हास्योत्पादक गाने का अलाप सुनाई पड़ा करता था। साथ में अक्षय मजूमदर की विनोदी बातों की भनक भी हमारे कान पर बीच-बीच में पड़ जाती थी। हम उन गानों को बराबर उस समय समझ तो न सके, परन्तु पीछे से कभी-न-कभी उन गानों को ढूंढ़ निकालने की उम्मीद हममें जरूर थी।

मेरे मन में गुणेन्द्र के प्रति विशेष आदर उत्पन्न करनेवाली एक छोटी-सी बात हो गई, यह मुझे अच्छी तरह स्मरण है। मुझे अच्छे चालचलन के सम्बन्ध में एक बार परितोषिक मिलने के सिवाय और कभी कोई भी पारितोषिक पाठशाला में नहीं मिला था। हम तीनों में 'सत्य' अभ्यास करने में अच्छा था। एक परीक्षा में उसे अच्छे नंबर मिले, और इस कारण उसे पारितोषिक भी मिला। घर में पहुँचते ही बगीचे में गुणेन्द्र था, उससे कहने के लिये मैं गाड़ी में-से कूदकर जोर के साथ भागा और भागते-भागते ही चिल्लाकर मैंने उससे कहा कि सत्य को इनाम मिला है। उसने हँसते हुए हमें अपने पास खींचकर पूछा कि क्या तुझे कोई इनाम नहीं मिला? मैंने उत्तर दिया कि हमें नहीं, सत्य को मिली हुई विजय से हमें जो आनन्द हुआ उसे देखकर उसका गला भर आया। उसने अपने एक मित्र से उसी समय कहा कि इसके स्वभाव की यह कितनी श्रेष्ठ बात है। मुझे यह सुनकर एक आश्चर्य ही हुआ, क्योंकि मैंने अपनी मनोभावना की ओर इस दृष्टि से कभी भी नहीं देखा था। पाठशाला में इनाम न मिलने पर भी घर पर

जो हमें यह इनाम मिला, उससे मेरा कुछ भी लाभ नहीं हुआ बालकों को देनगी देना बुरा नहीं है, परन्तु इनाम के रूप नहीं देना चाहिए। क्योंकि बिल्कुल छोटी अवस्था में अपने गुणों की जानकारी होना कुछ विशेष लाभदायक नहीं होता।

दोपहर का भोजन समाप्त हो जाने पर गुणेन्द्र जमींदार कचहरी में जा बैठता था। हमारे वृद्ध पुरुषों की कचहरी एक प्रकार का क्लब ही था। यहाँ हँसना, खेलना, गप्पें मारना वगैरह सब कुछ हुआ करता था। गुणेन्द्र एक कोच पर जा था। इस समय मौका देख मैं भी उसके पास धीरे से चला जाता था। प्रतिदिन वह हमें हिंदुस्तान के इतिहास की बातें बताया करता था। 'क्लाइव' का हिन्दुस्तान में आना, उसके यहाँ ब्रिटिश राज्य का जमाना, फिर विलायत लौटकर आत्महत्या करना, आदि बातें सुनकर हमें कितना आश्चर्य हुआ था, इसका मुझे अभी स्मरण है। जिस दिन मैंने यह सब बातें सुनीं उस दिन मैं दिनभर इसी विचार में गुम रहा कि यह कैसे हो सकता है कि एक ओर तो नवीन इतिहास का उदय है, और दूसरी ओर अन्तःकरण के गहन अंधकार में दुःख पर्यवसायी भाग दबा हुआ है। एक ओर अन्तरङ्ग में इसप्रकार गहन अपयश और दूसरी ओर देश की उत्तुङ्ग फहरती हुई ध्वजा ?

मेरे खीसे में क्या क्या हुआ है, इस सम्बन्ध में गुणेन्द्र को संशय न होने पावे, इसलिये मैं उत्तेजना मिलते ही अपने हाथ की लिखी पोथी बाहर निकाल लेता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गुनेन्द्र कठोर या गर्मागर्म समालोचक नहीं था। वास्तव में पूछा जाय तो उसके मत का उपयोग तो किसी विज्ञापन के समान लाभदायक होता था, परन्तु मेरी कविता

तो बिलकुल ही लड़कपन की होती थी। इसलिये वह मनःपूर्वक "अहाहा" यही उद्‌गार निकालता था। एक दिन 'हिन्द-माता' पर मैंने एक रचना की। उसकी एक पंक्ति के अन्त में रखने के लिये हाथी गाड़ी वाचक एक शब्द के सिवा दूसरा उसी तरह का शब्द मुझे याद न आया। वह शब्द बिलकुल ही योग्य नहीं था। तो भी 'यमक' के निर्वाह के लिये मैंने जबरन उसी शब्द को घुसेड़ दिया। 'यमक' अपने घोड़े को बराबर आगे रखना चाहते थे और अपने हक का समर्थन कर रहे थे। इसलिये यमक निर्वाहन करने के तर्क की कोई बात नहीं मानी गई और यमक का हक बराबर बना रहा।

उन दिनों मेरे सबसे बड़े भाई अपनी 'स्वप्नप्रयाण' नामक पुस्तक लिख रहे थे। यह उनकी पुस्तकों में सबसे श्रेष्ठ पुस्तक है। इसे वे दक्षिण की ओर के बरामदे में गद्दी पर बैठकर और अपने सामने डेस्क रखकर लिखा करते थे। गुणेन्द्र भी इस जगह प्रतिदिन सुबह आकर बैठता था। सदा आनन्द में रहने की उसकी विलक्षण शक्ति, बसन्त की वायु की लहरों के समान काव्य लता में नवीन अंकुर फूटने में उपयोगी पड़ती थी। मेरे ज्येष्ठ भ्राता का प्रायः यह सदा का क्रम था कि वे पहिले लिखते फिर उसे जोर-जोर से बांचते और बाँचते-बाँचते अपनी कल्पना की विलक्षणता पर खूब जोर से हँसते, जिसके कारण सारा बरामदा गजगजा उठता था। उनकी कवित्व शक्ति इतनी उर्वरा थी कि पहिले तो वे बहुत ज्यादा लिख डालते, फिर उसमें से छाँटकर पुस्तक की असल प्रति में लिखते थे। बसन्त ऋतु में जिस तरह आम्र-वृक्ष पर अधिक आया हुआ मौर झड़कर पृथ्वी पर बिखर जाता है, उसी प्रकार उनके 'स्वप्न-प्रयाण' के छोड़े हुए भाग के पन्ने घर भर में बिखरे हुए थे।

यदि किसी ने उन्हें एकत्रित कर संभाल कर रखे होते, तो आज हमारे बंगला साहित्य के लिये भूषणभूत एक पुष्प-कांड हो बन गया होता।

द्वार की संधियों में-से अथवा कोनों में-से देख-देखकर, हम इस काव्यमय मिजवानी का रसा-स्वादन करते रहते थे। इस मिजवानी में इतने अधिक पकवान बनाए जाते कि वे आखिर बच ही रहते। मेरे ज्येष्ठ भ्राता इस समय अपने महान सामर्थ्य-वैभव की उच्च शिखर पर पहुँच गए थे। उनकी लेखनी से कवि कल्पना का जोरदार प्रवाह बहने लगता था। उसमें यमक और सुन्दर भाषा की लहरों पर लहरें उठती थीं, और किनारे में टकराकर विजय गीत की आनन्द ध्वनि से दसों दिशाओं को गुञ्जित कर डालती थीं। हमें क्या 'स्वप्नप्रयाण' समझ में आता था ? और न समझें तो भी क्या हुआ ? उसके रसास्वादन के लिये समग्र समझने की आवश्यकता थोड़े ही थी। समुद्र के अत्यन्त गहराई में रही हुई सम्पत्ति मुझको मारने पर यदि हमें प्राप्त भी होती, तो भी हमें उससे क्या लाभ होता, जब कि किनारे पर टकरानेवाली लहरों के आनन्दातिशय में ही हम गर्क हो चुके थे और उनके आघात से हमारी रक्तवाहिनी नाड़ियों में जीवनरक्त खूब बह रहा था।

उन दिनों का मैं जितना अधिक विचार करता हूँ, उतना ही मुझे अधिक विश्वास होता है कि अब आगे 'मजलिस' नामक वस्तु मिलनेवाली नहीं है। अपने सामाजिक बन्धुओं के हिल-मिल कर व्यवहार करने का जो हमारे पूर्वजों में विशेष गुण था, उस गुण की अंतिम किरण मैंने अपनी बाल्यावस्था में देखी। उस समय अपने अड़ोसी-पड़ोसियों के प्रति प्रेमपूर्ण मनोवृत्ति इतनी नज़दीक थी कि 'मजलिस' एक आवश्यकीय बात

वन गई थी और जो इसकी उत्कृष्टता को जितना अधिक बढ़ाता, उसकी उतनी ही अधिक चाह होती थी। समाज को ऐसे ही लोगों की बहुत आवश्यकता रहती है। आजकल या तो किसी कार्य विशेष के कारण अथवा सामाजिक कर्तव्य के लिहाज से लोग एक दूसरे से मिलने को जाया करते हैं। एकत्रित होकर कुछ काल व्यतीत करने के उद्देश्य से कोई किसी के पास नहीं जाता। या तो आजकल के लोगों को समय ही नहीं रहता अथवा पहिले जैसा प्रेम ही नहीं रहा। उस समय यह हालत थी कि कोई आ रहा है तो कोई जा रहा है। कोई गप्पें मार रहे हैं, हँसी उड़ रही है। गप्पों और हँसियों का आवाज से कमरे गजगजा रहे हैं। एकत्रित लोगों में अगुआ बनकर मनोरञ्जक कहानियाँ इस तरह से कहने का प्रयत्न किया जा रहा है कि कहीं विरसता पैदा न होने पावे। उस समय के मनुष्यों की यह शक्ति आजकल नष्ट हो रही है। आज भी लोग आते-जाते हैं, परन्तु आज वे कमरे शून्य और भयानक दिखलाई पड़ते हैं।

उस समय दीवानखाने से लेकर रसोईघर तक की सब वस्तुएँ सब लोगों के उपयोग में आ सकने की अवस्था की गई थी। इसलिये ठाट-बाट तथा भपके में कभी कोई रूपांतर न होता था आजकल श्रीमतों के उपकरण तो बहुत बढ़ गए हैं, परन्तु उनमें प्रेम नहीं रहा और न इन साधनों में सब श्रेणी के लोगों में हिलमिल जाने की कला ही रह गई है। जिनके अंग पर वस्त्र नहीं हैं अथवा जो मैले-कुचैले हैं उन्हें बिना मंजूरी लिए केवल अपने हँसते हुए चेहरे के बलपर श्रीमंतों के उपकरणों का उपयोग करने का हक आजकल नहीं रह गया है। हम इन दिनों अपनी इमारतों-सजावटों में जिनका अनुकरण करने लगे हैं, उनमें भी समान है और ऊँचे दर्जे की मेहमानदारी की पद्धति

है। परन्तु हमारे में बड़ा दोष यह हो गया है कि जो हमारे नजदीकी साधन थे, उन्हें तो छोड़ दिया और पाश्चात्य पद्धति के अनुसार सामाजिक बंधन तैयार करने में लग गए, जिसके साधन हमारे पास हैं नहीं। परिणाम यह हुआ कि हमारा जीवन आनन्द शून्य हो गया। आजकल भी काम धंधे के सबब से अथवा राष्ट्रीय सामाजिक बातों के विचार के लिये हम एकत्रित होते हैं, परन्तु एक दूसरे से केवल मिलने के उद्देश से हम कभी एकत्रित नहीं होते। अपने देशबन्धुओं के प्रेम से प्रेरित होकर उन्हें एकत्रित करने के प्रसङ्ग हमने बन्द कर दिए हैं। इस सामाजिक बुराई की अपेक्षा मुझे कोई दूसरी बात बुरी नहीं मालूम होती। जिनके ठेठ अन्तःकरण से निकलनेवाला हास्य हमारी गृह-चिन्ता के भार को हलका करता था, उसका स्मरण आते यही बात ध्यान में आती है कि वे मनुष्य किसी भिन्न जगत से आए होंगे।

१८

मेरे साहित्यिक साथी

मुझे बाल्यावस्था में एक मित्र प्राप्त हुए थे, जिनकी मुझे अपनी वांङ्मय—प्रगति के कार्य में बहुमूल्य सहायता मिली। इनका नाम था, अक्षय चौधरी। यह मेरे चौथे भाई के समवयस्क

साथी थे। दोनों एक ही कक्षा में पढ़ते थे। ये इंग्लिश भाषा और साहित्य के एम० ए० थे। इन्होंने इंग्लिश साहित्य में जितनी प्रवीणता प्राप्त की थी, उतना ही उसपर इनका प्रेम भी था और दूसरी ओर देखा जाय तो बंगला के प्राचीन ग्रंथकार और वैष्णवी कवियों पर भी उनका उतना ही प्रेम था। उन्हें ऐसे सैकड़ों बङ्गला पद याद थे, जिनके कर्ताओं के नाम उपलब्ध नहीं हैं। न वे राग और तालों को देखते, न परिणाम को और इसका पर्वाह ही करते कि श्रोता लोग क्या कह रहे हैं? श्रोताओं के मना करने पर भी ये आवाज चढ़ा-चढ़ा कर गाया करते थे। अपने गाने की आपही ताल लगाने में उन्हें कोई भी बात पराजित नहीं कर सकती थी। श्रोताओं के मन में उत्साह पैदा करने के लिए वे पास में रखी हुई टेबिल या पुस्तक को ही अपना तबला बना लेते थे।

तुच्छ अथवा श्रेष्ठ किसी श्रेणी की वस्तु से सुख प्राप्त कर लेने का निग्रह रखने की विलक्षण सामर्थ्यवाले जो लोग होते हैं, उनमें से अक्षय बाबू भी एक थे। वे किसी बात की भलाई की स्तुति करने में जितने उदार थे, उतने ही उसका उपयोग कर लेने में तत्पर भी थे। बहुत से पद और प्रेमल काव्य शीघ्रता से रचने की विलक्षण हथौटी उन्हें प्राप्त हुई थी। परन्तु कवि होने का उन्हें बिलकुल ही अभिमान नहीं था। पेंसिल से लिखे हुए कागजों के टुकड़ों के ढेर इधर-उधर पड़े रहते थे, जिनको ओर वे फिरकर देखते भी नहीं थे। उनकी शक्ति जितनी विस्तृत थी उतना ही वे उसके प्रति उदासीन भी थे।

उनकी कविताओं में-से, जब एक कविता वंगदर्शन में प्रकाशित हुई तो पाठकों को वे अधिक प्रिय हुए। मैंने ऐसे बहुत-से

लोगों को पद गाते हुए देखा है, जिन्हें पदों के कर्ता का बिलकुल ही परिचय नहीं था।

विद्वत्ता की अपेक्षा साहित्य से अधिक आनंद प्राप्त करने का गुण बहुत थोड़े मनुष्यों में होता है। अक्षय बाबू के [illegible] पूर्ण सामर्थ्य के कारण कविता का आस्वाद लेने और साहित्य का मर्म जानने की शक्ति हमें प्राप्त हुई। वे जिस तरह साहित्य-समालोचन के कार्य में उदार थे, उसी तरह स्नेह सम्बन्ध में भी उदार थे। अपरिचित के व्यक्तियों में उनकी दशा पानी से निकाली हुई मछली के समान हो जाती थी और परिचित व्यक्ति फिर चाहे ज्ञान और वय का कितना ही अन्तर क्यों न हो, उन्हें समान प्रतीत होते थे। हम बालकों में वे भी बालक बन जाते थे। ज्योंही सायंकाल के समय वे हमारे गुरु पुरुषों की मंडली में से निकलते, त्योंही उनका कोट पकड़कर मैं अपने पढ़ने की जगह पर ले जाता। वे वहाँ पर टेबिल पर बैठ जाते और उत्साहपूर्वक हमारे साथ व्यवहार कर हमारी बालसभा के प्राण बन जाते। ऐसे अवसरों पर कई बार मैंने उन्हें बड़े आनन्द से इंगलिश कविता बोलते हुए देखा है। कभी कभी हम उनसे साहित्यिक वाद-विवाद भी करने लगते और कभी कभी अपने लिखे हुए लेखों को पढ़कर सुनाते। इसके बदले में बिना चूके वे मेरी अपार स्तुति करते और पारितोषिक भी देते थे।

इसी साहित्य और मनोभावना के संबंध में उचित मार्ग में लगानेवाले व्यक्तियों में से मेरा बड़ा भाई ज्योतिरिन्द्र मुख्य था। वह स्वयं भी उत्साही (मनचला) आदमी था और दूसरों में भी उत्साह पैदा करना चाहता था। बौद्धिक और भावनात्मक विषयों पर विवाद करके आपने साथ विशेष परिचय करने के कार्य में वह अवस्था का अन्तर बाधक नहीं बनने देता था।

उसने स्वातंत्र्य की जो यह उदार देनगी दी, वह दूसरा नहीं दे सकता था। इस सम्बन्ध में बहुतों ने उसे दोष भी दिया। इसके सा मैत्री करने के कारण पीछे रखने के लिए बाध्य करनेवाला डरपोंकपन झाड़ फेंकना हमें शक्य हुआ। अत्यन्त तीव्र गरमी के बाद जिस प्रकार वर्षा की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार बाल्यावस्था में जकड़े हुए आत्मा को स्वातन्त्र्य की आवश्यकता होती है। इस तरह से यदि बेड़ियाँ नहीं टूटी होतीं तो मैं जन्म भर के लिए पंगु हो गया होता। स्वतंत्रता देना अस्वीकार करते समय सदा उसके दुरुपयोग की संभावना के अभाव में स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता कभी प्राप्त नहीं होती। कोई वस्तु जब योग्य रीति से उपयोग में लाना सिखलाना हो, तो उसका एक ही मार्ग है, वह है उसका दुरुपयोग करना। कम-से-कम मेरे सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि मुझे मिली हुई स्वतंत्रता का जो कुछ दुरुपयोग हुआ उसी दुरुपयोग ने मुझे पार होने के मार्ग में लगाया। मेरे कान पकड़कर अथवा मेरे मन पर दबाव डालकर जो काम करने के लिए लोगों ने मुझे बाध्य किया, उन कामों को मैं कभी ठीक तौर पर नहीं कर सका। जब जब मुझे परतंत्र रखा, तब तब सिवाय दुःख के मेरे अनुभव में और कुछ नहीं आया।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में ज्योतिरीन्द्र मुझे उदार मन से संचार करने देता था और इसी समय से प्रायः पुष्प उत्पन्न करने की तैयारी मेरी मनःसृष्टि की हो गई। इस आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का जो मुझे अनुभव मिला, उसने मुझे यही सिखाया कि अच्छाई के लिए किए गए महान प्रयत्नों की अपेक्षा साक्षात बुराई से भी डरने की जरूरत नहीं है।

लोगों को पद गाते हुए देखा है, जिन्हें पदों के कर्त्ता का तनिक ही परिचय नहीं था।

विद्वत्ता की अपेक्षा साहित्य से अधिक आनंद प्राप्त करने का गुण बहुत थोड़े मनुष्यों में होता है। अक्षय बाबू के इस पूर्ण सामर्थ्य के कारण कविता का आस्वाद लेने और साहित्य का मर्म जानने की शक्ति हमें प्राप्त हुई। वे जिस तरह साहित्य-समालोचन के कार्य में उदार थे, उसी तरह स्नेह सम्बन्ध में भी उदार थे। अपरिचित व्यक्तियों में उनकी दशा पानी में से निकाली हुई मछली के समान हो जाती थी और परिचित व्यक्ति फिर चाहे ज्ञान और वय का कितना ही अन्तर क्यों न हो उन्हें समान प्रतीत होते थे। हम बालकों में वे भी बालक बन जाते थे। ज्योंही सायंकाल के समय वे हमारे वृद्ध पुरुषों की मंडली में से निकलते, त्योंही उनका कोट पकड़कर मैं अपने पढ़ने की जगह पर ले जाता। वे वहाँ पर टेबिल पर बैठ जाते और उत्साहपूर्वक हमारे साथ व्यवहार कर हमारी बालमंडली के प्राण बन जाते। ऐसे अवसरों पर कई बार मैंने इन्हें बड़े आनन्द से इंगलिश कविता बोलते हुए देखा है। कभी कभी हम उनसे मार्मिक वाद-विवाद भी करने लगते और कभी कभी अपने लिखे हुए लेखों को पढ़कर सुनाते। इसके बदले में बिना चूके वे मेरी अपार स्तुति करते और पारितोषिक भी देते थे।

मुझे साहित्य और मनोभावना के सम्बन्ध में उचित मार्ग में लगानेवाले व्यक्तियों में से मेरा चौथा भाई ज्योतिरीन्द्र मुख्य था। वह स्वयं भी धुन का (मनचला) आदमी था और दूसरों में भी धुन पैदा करना चाहता था। बौद्धिक और भावात्मक विषयों पर विवाद करके अपने साथ विशेष परिचय करने के कार्य में वह अवस्था का अन्तर बाधक नहीं बनने देता था।

उसने स्वातंत्र्य की जो यह उदार देनगी दी, वह दूसरा नहीं दे सकता था। इस सम्बन्ध में बहुतों ने उसे दोष भी दिया। इसके सा मैत्री करने के कारण पीछे रखने के लिए बाध्य करनेवाला डरपोंकपन झाड़ फेंकना हमें शक्य हुआ। अत्यन्त तीव्र गरमी के बाद जिस प्रकार वर्षा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बाल्यावस्था में जकड़े हुए आत्मा को स्वातन्त्र्य की आवश्यकता होती है। इस तरह से यदि बेड़ियाँ नहीं टूटी होतीं तो मैं जन्म भर के लिए पंगु हो गया होता। स्वतंत्रता देना अस्वीकार करते समय सदा उसके दुरुपयोग की संभावना के अभाव में स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता कभी प्राप्त नहीं होती। कोई वस्तु जब योग्य रीति से उपयोग में लानी सिखलाना हो, तो उसका एक ही मार्ग है, वह है उसका दुरुपयोग करना। कम-से-कम मेरे सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि मुझे मिली हुई स्वतंत्रता का जो कुछ दुरुपयोग हुआ उसी दुरुपयोग ने मुझे पार होने के मार्ग से लगाया। मेरे कान पकड़कर अथवा मेरे मन पर दबाव डालकर जो काम करने के लिए लोगों ने मुझे बाध्य किया, उन कामों को मैं कभी ठीक तौर पर नहीं कर सका। जब जब मुझे परतंत्र रखा, तब तब सिवाय दुःख के मेरे अनुभव में और कुछ नहीं आया।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में ज्योतिरीन्द्र मुझे उदार मन से संचार करने देता था और इसी समय से प्रायः पुष्प उत्पन्न करने की तैयारी मेरी मनःसृष्टि की हो गई। इस आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का जो मुझे अनुभव मिला, उसने मुझे यही सिखाया कि अच्छाई के लिए किए गए महान प्रयत्नों की अपेक्षा साक्षात बुराई से भी डरने की जरूरत नहीं है।

लोगों को पद गाते हुए देखा है, जिन्हें पदों के कर्त्ता का विशेष ही परिचय नहीं था।

विद्वत्ता की अपेक्षा साहित्य से अधिक आनंद प्राप्त करने का गुण बहुत थोड़े मनुष्यों में होता है। अक्षय बाबू के उत्साह पूर्ण सामर्थ्य के कारण कविता का आस्वाद लेने और साहित्य का मर्म जानने की शक्ति हमें प्राप्त हुई। वे जिस तरह साहित्य-समालोचन के कार्य में उदार थे, उसी तरह स्नेह सम्बन्ध में भी उदार थे। अपरिचित व्यक्तियों में उनकी दशा पानी से निकाली हुई मछली के समान हो जाती थी और परिचित व्यक्ति फिर चाहे ज्ञान और वय का कितना ही अन्तर क्यों न हो उन्हें समान प्रतीत होते थे। हम बालकों में वे भी बालक बन जाते थे। ज्योंही सायंकाल के समय वे हमारे वृद्ध पुरुषों की मंडली में से निकलते, त्योंही उनका कोट पकड़कर मैं उन्हें पढ़ने की जगह पर ले जाता। वे वहाँ पर टेबिल पर बैठ जाते और उत्साहपूर्वक हमारे साथ व्यवहार कर हमारी बालमंडली के प्राण बन जाते। ऐसे अवसरों पर कई बार मैंने उन्हें बड़े आनन्द से इंग्लिश कविता बोलते हुए देखा है। कभी कभी हम उनसे मार्मिक वाद-विवाद भी करने लगते और कभी कभी अपने लिखे हुए लेखों को पढ़कर सुनाते। इसके बदले में बिना चूके वे मेरी अपार स्तुति करते और पारितोषिक भी देते थे।

हमें साहित्य और मनोभावना के सम्बन्ध में उचित मार्ग में लगानेवाले व्यक्तियों में-से मेरा चौथा भाई ज्योतिरीन्द्र मुख्य था। वह स्वयं भी उत्साही (मनचला) आदमी था और दूसरों में भी धुन पैदा करना चाहता था। बौद्धिक और भावात्मक विषयों पर विवाद करके अपने साथ विशेष परिचय करने के कार्य में वह अवस्था का अन्तर बाधक नहीं बनने देता था।

रखने स्वातंत्र्य की जो यह उदार देनगी दी, वह दूसरा नहीं दे सकता था। इस सम्बन्ध में बहुतों ने उसे दोष भी दिया। इसके सा मैत्री करने के कारण पीछे रखने के लिए बाध्य करनेवाला डरपोंकपन झाड़ फेंकना हमें शक्य हुआ। अत्यन्त तीव्र गरमी के बाद जिस प्रकार वर्षा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार बाल्यावस्था में जकड़े हुए आत्मा को स्वातन्त्र्य की आवश्यकता होती है। इस तरह से यदि बेड़ियाँ नहीं टूटी होतीं तो मैं जन्म भर के लिए पंगु हो गया होता। स्वतंत्रता देना अस्वीकार करते समय सदा उसके दुरुपयोग की संभावना के अभाव में स्वतंत्रता को वास्तविक स्वतंत्रता कभी प्राप्त नहीं होती। कोई वस्तु जब योग्य रीति से उपयोग में लाना सिखलाना हो, तो उसका एक ही मार्ग है, वह है उसका दुरुपयोग करना। कम-से-कम मेरे सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि मुझे मिली हुई स्वतंत्रता का जो कुछ दुरुपयोग हुआ उसी दुरुपयोग ने मुझे पार होने के मार्ग से लगाया। मेरे कान पकड़कर अथवा मेरे मन पर दबाव डालकर जो काम करने के लिए लोगों ने मुझे बाध्य किया, उन कामों को मैं कभी ठीक तौर पर नहीं कर सका। जब जब मुझे परतंत्र रखा, तब तब सिवाय दुःख के मेरे अनुभव में और कुछ नहीं आया।

आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग में ज्योतिरीन्द्र मुझे उदार मन से संचार करने देता था और इसी समय से प्रायः पुष्प उत्पन्न करने की तैयारी मेरी मनःसृष्टि की हो गई। इस आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के मार्ग का जो मुझे अनुभव मिला, उसने मुझे यही सिखाया कि अच्छाई के लिए किए गए महान प्रयत्नों की अपेक्षा साक्षात बुराई से भी डरने की जरूरत नहीं है।

राजनैतिक, अथवा नैतिक अपराधों को दंड देनेवाली पुलिस का भय, लाभदायक होते हुए भी, मुझे भय ही मालूम होता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करते समय स्वावलम्बन न किया जाय तो जो गुलामी प्राप्त होती है वह एक प्रकार की दुष्टता ही है। मनुष्य प्राणी इस गुलामी की प्रायः बलि हो जाया करते हैं।

एक बार मेरा भाई 'नवीन' स्वर-लिपि तैयार करने में कितने ही दिनों तक संलग्न रहा। उसके पियानो पर बैठते ही उसकी चलनेवाली उंगलियों के द्वारा मधुर आलाप की वर्षा होने लगती। उसकी एक ओर अक्षय बाबू और दूसरी ओर मैं बैठता था। पियानो में से स्वरों के निकलते ही हम लोग उनके अनुरूप शब्द ढूंढ़ने में लग जाते, जिससे कि स्वरों के ध्यान में रहने के लिये सहायता मिले। इस प्रकार पद्य-रचना का शिष्यत्व मैंने ग्रहण किया।

जिस समय हम जरा बड़े होने लगे, उस समय हमारे कुटुम्ब में संगीतशास्त्र की प्रगति शीघ्रता से होने लगी थी। इस कारण बिना प्रयत्न के ही मेरे मस्तिष्क में उसके भिद जाने का हमें लाभ हुआ। परन्तु साथ में उससे एक हानि भी हुई। वह यह कि मुझे संगीतशास्त्र का क्रमपूर्वक प्राप्त होनेवाला शुद्ध ज्ञान न मिल सका।

हिमालय से लौटने पर क्रम क्रम से मुझे अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती गई। नौकरों का शासन दूर हो गया और मैंने अनेक युक्ति-प्रयुक्तियों के द्वारा पाठशाला के जीवन को तोड़ने की भी व्यवस्था कर डाली। घर पर सिखानेवाले शिक्षकों को भी अब अधिक शासन करने का मैंने अवसर नहीं दिया। 'कुमार सम्भव' पढ़ाने के बाद ज्ञान बाबू ने ज्यों-त्यों करके एक

पुस्तकें और पढ़ाईं। फिर वे भी वकालत पढ़ने के लिये चल दिए। उनके बाद व्रज बाबू आए। इन्होंने पहिले ही दिन मुझे 'विकार आफ् वेकफील्ड' नामक पुस्तक का अनुवाद करने के कार्य में लगाया। जब उन्होंने देखा कि मैं उक्त पुस्तक से घबड़ाता नहीं हूँ, तब उन्हें अधिक उत्साह हुआ और वे मेरे शिक्षण की प्रगति करने की अधिक व्यवस्थित तजवीज करने लगे। यह देखकर मैं उन्हें भी टालने लगा।

मैं ऊपर कह ही आया हूँ कि मेरे बुजुर्गों ने मेरी आशा छोड़ दी था। मेरे भावी जीवन की कर्तृत्व शक्ति के सम्बन्ध में उन्हें और मुझे कुछ विशेष आशा नहीं थी। अपने पास की कोरी पुस्तक येन-केन प्रकारेण लिखने के लिये मैं स्वतन्त्र हूँ, ऐसा मैं समझने लगा। परन्तु वह पुस्तक मेरी कल्पना की अपेक्षा अधिक श्रेष्ट लेखों से नहीं भरी गई। मेरे मन में गरम-गरम भाप के सिवाय और था भी क्या। इस भाप के द्वारा बने हुए बुदबुदे मेरी आलस्यपूर्ण कल्पना के आस-पास उद्देश्य और अर्थ रहित होकर चक्कर मारा करते थे। उनके द्वारा कोई आकृति निर्माण नहीं होती थी। बुदबुदे उठते और फूट कर फेन बन जाते थे। मेरे कवित्व में यदि कुछ होता भी तो वह मेरा न होकर इतर कवियों के काव्य से उधार लिया हुआ भाग ही होता था। उसमें यदि मेरा कुछ होता भी तो केवल मेरे मन की छटपटाहट अथवा मन को क्षुब्ध करनेवाला दवाव। मनःशक्ति की समतोल अवस्था का विकास होने के पहिले ही जहाँ हलचल प्रारम्भ हो जाती है, वहाँ निश्चयतः अन्धकार ही रहता है

मेरी भौजाई (चौथे भाई की स्त्री) को साहित्य में बड़ा प्रेम था। वह केवल समय व्यतीत करने के लिये ही नहीं पढ़ा

करती थी, किन्तु जो बँगला पुस्तक पढ़ती उसे मन में पचती भी जाती थी। साहित्य सेवा के कार्य में उसका मेरा साहचर्य था। 'स्वप्नप्रयाण' नामक पुस्तक के सम्बन्ध में उसका बहुत ऊँचा मत था। मेरा भी उस पुस्तक पर बहुत प्रेम था। उस पुस्तक के जन्मकाल में ही मेरी वृद्धिगत अवस्था को उसका स्वाद चखने का अवसर मिला था और मेरे अन्तःकरण के तन्तुओं ने उस पुस्तक की तरामें तक पुष्प कलिकाओं को गूँथ लिया था इसलिये उसपर मेरा प्रेम और भी अधिक हो गया था। उसके (स्वप्नप्रयाण के) समान लिखना मेरी शक्ति के बाहर था, इसलिये सदैव से ऐसा प्रयत्न करने का मुझे विचार तक पैदा नहीं हुआ।

'स्वप्नप्रयाण' की तुलना किसी ऐसे रूपकातिशयोक्ति-पूर्ण भव्य प्रसाद से की जा सकती है, जिसमें असंख्य दालान, कमरे, छज्जे, वगैरह हों और जो आश्चर्यजनक तथा सुन्दर मूर्तियों, चित्रों आदि से खूब भरा हुआ हो। जिसके चारों ओर बागीचे हों, जिसमें स्थान-स्थान पर लताकुञ्ज, फव्वारे प्रेम-कथा के लिये गुफाएँ आदि सामग्री हों। यह मन्त्र केवल काव्यमय विचारों और कवि-कल्पनाओं से ही भरा हुआ नहीं है, प्रत्युत इसकी सुन्दर भाषा शैली और नानाविध शब्द-रचना आश्चर्यजनक है। सब तरह से पूर्णत्व प्राप्त और चमत्कृति जनक इस रमणीय काव्य को जन्म देनेवाली शक्ति कोई साधारण बात नहीं है। शायद इसीलिये इसकी नकल करने की कल्पना मुझे पैदा नहीं हुई।

इन्हीं दिनों श्री विहारीलाल चक्रवर्ती की 'शारद-मंगल' नामक पद्य माला 'आर्य-दर्शन' में प्रकाशित होती थी। इसके

प्रेमपूर्ण गीतों ने मेरी भौजाई का मन बहुत ही मोहित कर लिया था। बहुत-से गीत तो उसने जुबानी याद कर लिए थे। वह इन गीतों के रचयिता कवि को निमंत्रण देकर बुलाया करती थी और इनके बैठने के लिये अपने हाथ से बेलबूटे काढ़ कर एक गादी तैयार की थी। इसीलिये मुझे इनसे परिचय प्राप्त करने का अपने आप अवसर मिल गया। मेरे पर भी उनका प्रेम जम गया। मैं किसी भी समय उनके घर पर चला जाता था। शरीर के समान उनका अन्तःकरण भी भव्य था। काव्यरूप काम देह के समान कवि प्रतिभा का उज्ज्वल तेजोमंडल उनके चारों ओर फैला हुआ रहता था और यही उनको वास्तविक प्रतिभा मूर्ति है—ऐसा मालूम होता था। वे काव्यानन्द से सदा भरे रहते थे। जब-जब मैं उनके पास जाता, मुझे भी काव्यानन्द का आस्वादन मिलता था। दोपहर के समय कड़क गर्मी में तीसरे मञ्जिल पर एक छोटी-सी कोठरी में चूना गच्ची की कोमल जमीन पर पड़कर कविता लिखते मैंने कई बार उन्हें देखा है।

यद्यपि उस समय मैं एक छोटा बालक ही था, तो भी वे मेरा ऐसे अकृत्रिम भाव से स्वागत करते थे कि मुझे उनके पास जाने में कभी संकोचतक नहीं होता था। ईश्वरी प्रेरणा में तल्लीन होकर और अपने पास कौन है और क्या हो रहा है इसकी ओर न देखकर एक सामाधिस्थ के समान वे अपनी कविताएँ, अथवा पद सुनाते थे। यद्यपि उन्हें मधुर गायन की कोई देनगी प्रकृति ने नहीं दी थी, तो भी वे बिल्कुल बेसुरा भी नहीं गाते थे और उनके गायन से कोई भी गायक यह कल्पना कर सकता था कि उन्हें कौनसा आलाप निकालना है। जब वे आँखें मींचकर आवाज ऊँची चढ़ाते थे तब उनकी गति की कमजोरी छिप जाती थी। मुझे अभी भी यह भान हो जाता है कि उन्होंने

मुझे जैसे गाने सुनाए थे, वैसे ही मैं अब भी सुन रहा हूँ। कभी कभी मैं भी उनके गाने जमाकर उन्हें गाकर सुनाया करता था।

वे वाल्मीकि और कालिदास के भक्त थे। मुझे स्मरण है कि एक बार उन्होंने कालिदास के काव्यों में से हिमालय का वर्णन बड़े जोर से पढ़ा और इसके बाद बोले कि:—

'अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः' इस श्लोकार्ध में कालिदास ने जो 'आ' इस दीर्घ स्वर का मुक्त हस्त से प्रयोग किया है वह यों ही नहीं किया, किंतु 'देवतात्मा' से 'नगाधिराज' तक कवि ने जानबूझकर यह दीर्घ स्वर हिमालय का दीर्घत्व प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया है।

इस समय मेरी मुख्य महत्वाकांक्षा केवल बिहारी बाबू के समान कवि होने की ही थी और मुझे यह स्थिति प्राप्त भी हो जाती कि मैं अपने आप समझने लगता कि मैं बिहारी बाबू के समान कविता कर सकता हूँ। परन्तु मेरी भौजाई जो उनकी भक्त थी, इसमें आड़े आती थी। वह बार बार मुझे कहती कि "मंदः कवि यशः प्रार्थी गमि ष्युत्युपहास्यताम्" अर्थात योग्यता न होते हुए कीर्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा रखनेवाले कवि का उपहास होता है। वह शायद यह बात अच्छी तरह जानती थी कि यदि कभी महत्वाकांक्षा के साथ दुरभिमान ने सिर उठाया तो फिर उसका दाबना कठिन हो जायगा।

अतः वह मेरे गायन अथवा काव्य की सहसा प्रशंसा नहीं किया करती थी। इतना ही नहीं, वह दूसरे के गायन की प्रशंसा कर मेरी त्रुटि दिखाने का अवसर कभी यों ही नहीं जाने देती थी, उसका तो वह उपयोग कर ही लेती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मुझे अपनी आवाज में दोष है, इसका पूरी तरह

विश्वास हो गया और काव्यरचना के सामर्थ्य में भी संदेह होने लगा। परन्तु यही एक उद्योग था जिसके कारण मैं बड़प्पन प्राप्त कर सकता था। अतः दूसरों के निर्णय पर मैं सब आशा छोड़ देने के लिए भी तैयार न था। इसके सिवाय मेरे अन्तः-करण की प्रेरणा इतने जोर की थी कि काव्यरचना के साहस से मुझे परावृत्त करना अशक्य था।

१६

लेख प्रसिद्धि

इस समय तक मेरे लेख मण्डली के बाहर नहीं गए थे। इन्हीं दिनों "ज्ञानांकुर" नामक मासिक पत्र निकला और उसके नामानुकूल गर्भावस्थित एक लेखक भी उसे मिला। यह पत्र बिना भेदाभेद किए मेरी सब कविता प्रसिद्ध करने लगा। इस समय तक मेरे मन के एक कोने में ऐसी भीति छिपी हुई पड़ी है कि जिस समय मेरा न्याय करने का अवसर आयगा, उस दिन कोई साहित्यिक पुलिस अधिकारी निजी बातों के हक की ओर ध्यान न देकर विस्मृति के अंधकार में पड़े हुए साहित्य के अन्तःपुर में जाँच-पड़ताल शुरू करेगा और उसमें से मेरी सब कविता ढूँढ़कर निर्दय जनता के सामने रख देगा।

मेरा पहिला गद्य लेख भी 'ज्ञानांकुर' में ही प्रकाशित हुआ।

वह समालोचनात्मक था और उसमें थोड़ी ऐतिहासिक चर्चा भी की गई थी।

एक 'भुवन मोहिनी प्रतिभा' नामक काव्य पुस्तक प्रकाशित हुई थी। इसकी अक्षय बाबू ने 'साधारणी' में और भूदेव बाबू ने 'एज्युकेशन गजट' में खूब प्रशंसा की थी तथा इसके रचयिता नूतन कवि का स्वागत भी किया था। मेरा एक मित्र था। अवस्था में वह मुझसे बड़ा भी था। वह मेरे पास बारंबार आता और 'भुवन मोहिनी' के द्वारा उसके पास भेजे हुए पत्रों को वह मुझे दिखलाता था। यह भी 'भुवन मोहिनी प्रतिभा' नामक पुस्तक पर मोहित होनेवालों में-से एक था और वह इस पुस्तक की प्रसिद्धि-प्राप्तकर्त्री के पास पुस्तकें व कीमती कपड़ों की भेंट भेजता रहता था।

इस पुस्तक की कुछ कविताओं की भाषा इतनी अनियंत्रित थी कि मुझे यह विचार ही सहन नहीं होता था कि इसप्रकार लिखनेवाली कोई स्त्री हो सकती है और फिर मैंने अपने स्नेही के पास आए हुए जो पत्र देखे उनपर से मेरा उसके स्त्रीत्व के सम्बन्ध में विश्वास और भी कम हो गया। परन्तु मेरे स्नेही के विश्वास में मेरे अविश्वास से कुछ धक्का नहीं लगा और उसने अपने आराध्य देवता की पूजा उसी प्रकार चालू रखी।

अब मैंने भुवनमोहिनी-प्रतिभा पर समालोचना लिखना प्रारम्भ किया। मैंने भी अपनी कलम को स्वच्छन्द छोड़ दिया। इस लेख में रसात्मक काव्य और इतर काव्य के विशेष लक्षणों का व्युत्क्रम रीति से ऊहापोह किया। इन लेखों में मेरे अनुकूल यही बात थी कि ये बिना सङ्कोच के छपकर प्रकाशित हुए थे और ये इस तरह से लिखे गए थे कि उनपर से लेखक के नाम का पता नहीं लग सकता था। एक दिन मेरा एक स्नेही

गुस्से से भरा हुआ मेरे पास आया और मुझसे कहने लगा कि इन लेखों का प्रत्युत्तर कोई विद्वान् ग्रेज्युएट लिख रहा है। ग्रेज्युएट प्रत्युत्तर लिख रहा है, यह सुनकर मैं अवाक् हो गया और बालपन में जिस तरह 'सत्य' ने पुलिस ! पुलिस !! कहकर मुझे डराया था उसी तरह इस समय भी मेरी दशा हुई। मुझे ऐसा भास होने लगा मानों ग्रेज्युएट ने अपने पक्ष समर्थन के लिये अधिकारी मनुष्यों के जो उद्धरण दिए हैं, उनकी मार से, मेरे लेखों में ह्रस्व दीर्घ भेद के पायों पर जो मुद्दों का जयस्तंभ मैंने खड़ा किया है, वह मेरी दृष्टि के आगे गिरा हुआ पड़ा और पाठकों के आगे हमें अपना मुंह दिखाने का मार्ग कुंठित हो गया है। हायरे समालोचक। मैंने कितने दिनों तक दारुण संशय के साथ तेरी कैसी प्रतीक्षा की ! (न मालूम कौन से अशुभ ग्रह में तूने लिखना प्रारम्भ किया था, जो आज तक तेरे लेख सामने नहीं आ पाए।) ?

भानुसिंह

मैं एक बार ऊपर बतला चुका हूं कि मैं बाबू अक्षय सरकार और सरोदमित्र द्वारा प्रकाशित प्राचीन काव्यमाला का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करनेवाला विद्यार्थी था। उसपर से मुझे

मालूम पड़ा कि मैथिली की भाषा बहुत कुछ मिश्रित है। अतः उसका समझना एक कठिन काम है। अतः इसका अर्थ समझने के लिये मैं खूब कमकर प्रयत्न करता था। बिल के भीतर छिपे हुए शिकार की ओर अथवा पृथ्वी के भूलिकमय आच्छादन के नीचे छिपे हुए रहस्य की ओर मैं जिस उत्कट जिज्ञासा से देखता था, उसी जिज्ञासा से इस काव्य-रत्नाकार के गूढ़ अन्धकार में मैं ज्यों ज्यों भीतर जाता त्यों-त्यों कुछ अप्रसिद्ध काव्यरत्नों को प्रकाश में लाने की मेरी आशा और उसके कारण उत्पन्न उमंग बढ़ता ही जाता था।

इस काव्य के अभ्यास में लगे हुए रहने की अवस्था में कल्पना मेरे में घूमने लगी कि अपने लेख भी इसी प्रकार के गूढ़ वेष्टनों में लपेटे हुए रहने चाहिए। अंग्रेज बालकवि चाटरटन (Chatarton) का हाल अक्षय चौधरी से मैंने सुन रखा था। उसकी कविता के सम्बन्ध में हमें कोई कल्पना नहीं थी और शायद अक्षय बाबू को भी न होगी। यह भी संभव है कि यदि उसकी कविता का स्वरूप हम समझ गए होते, तो उसकी निज की कथा में कुछ मजा भी न रहता। हाँ, इतनी बात जरूर है कि मनोविकारों में हलचल पैदा कर देनेवाले उसके विशिष्ट गुणों से मेरी कल्पना शक्ति प्रज्वलित हुई। सर्वमान्य कवियों का बेमालूम रीति से अनुकरण कर बालक चाटरटन ने अनेक लोगों को चकित किया और अन्त में उस अभागे बालक ने अपने आप आत्मघात कर डाला। इसके चरित्र का आत्मघात का हिस्सा छोड़कर, समझे सर्वांगों मेरे अन्दर की भी चोटी दबाने के लिये मैं कमर कसकर तैयार हो गया।

एक दिन दोपहर के समय आकाश मेघाच्छादित था, दोपहर के समय विश्रांति के समय प्रकृति देवता ने प्रसन्नता के

ताप से इस प्रकार हमारी रक्षा की अतः मेरा अन्तःकरण कृतज्ञता से भर गया और हमें बड़ा आनन्द मालूम होने लगा। मैं अपने भीतर के कमरे में बिस्तरे पर उलटा पड़ गया और पट्टी पर मैंने मैथिली की एक कविता का अनुवाद लिख डाला। इस रूपांतर से मैं इतना प्रसन्न हुआ कि उसके बाद हमें जो पहिले-पहल मिला उसे ही मैंने वह कविता तुरन्त सुना दी। कविता में एक भी शब्द ऐसा न था जिसे वह न समझ सके। अतः उसने भी सिर हिलाकर बहुत अच्छी-बहुत अच्छी कह दिया।

ऊपर मैं अपने जिस मित्र का वर्णन कर आया हूँ, एक दिन मैंने उससे कहा कि आदि ब्रह्म समाज की पुस्तकें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते हमें फटे पुराने कागजों पर लिखी एक पुस्तक मिली है। उस पर-से भानुसिंह नामक एक प्राचीन वैष्णव कवि की कुछ कविता की मैंने नकल कर डाली है। ऐसा कहकर मैथली कवि की कविता के अनुकरण स्वरूप मैंने जो कविता की थी, वह उसे सुनाई। वह आनन्द से बेहोश होकर कहने लगा कि विद्यापति या चंडीदास भी ऐसी कविता नहीं कर सकते थे। इन्हें प्रकाशित करने के लिये अक्षयबाबू को देने के अर्थ वह मुझ-से माँगने लगा। परन्तु जब मैंने अपनी पुस्तक बतलाकर यह कहा कि वास्तव में विद्यापति या चंडीदास नहीं रच सकते थे ऐसी यह मेरी रचना है, तब उसका मुँह उतर गया और फिर कहने लगा कि 'हाँ यह कविता इतनी कुछ बुरी नहीं है'।

जिन दिनों भानुसिंह के नाम से कविताएँ प्रकाशित हो रही थी, उन्ही दिनों डॉ० निशिकांत चटर्जी जर्मनी गए हुए थे। वहाँ उन्होंने यूरोपियन रसात्मक काव्य के समर्थन में एक

निबन्ध लिखा। इस निबन्ध में किसी भी अर्वाचीन कवि की दृष्टि न पहुँच सके, इतने सम्मान का स्थान भानुसिंह को प्राचीन कवि कहकर दिया गया था और आश्चर्य यह कि इसी निबन्ध पर निशिकांतबाबू को पी. एच. डी. की सम्माननीय पदवी मिली।

कवि भानुसिंह कोई हो क्यों न हो, परन्तु मेरी बुद्धि के प्रगल्भ होने पर यदि वह कविता मेरे हाथों में आई होती तो हमें विश्वास है कि उसके कर्ता के सम्बन्ध में मैं कभी नहीं फंसता। भाषा के सम्बन्ध में, मेरी जाँच पड़ताल में वह ठीक उतरी होती। क्योंकि वह प्राचीन कवियों की भाषा उनकी मातृ-भाषा न होकर भिन्न भिन्न कवियों की लेखनी से परिवर्तन होनेवाली अस्वाभाविक भाषा थी। हाँ, उनकी कविता के भावों में अस्वभाविकता कुछ भी नहीं थी और यदि काव्यानन्द पर से भानुसिंह की कविता की परीक्षा की होती, तो उसका हीनता तुरन्त ही दृष्टि में आए बिना नहीं रहती। क्योंकि उसमें से हमारे प्राचीन बाजों की मादक आवाज निकल कर अर्वाचीन परदेशीय प्राचीन कवियों की भाषा के समान थी, नलिका की क्षुद्र ध्वनि निकलती थी।

७१

स्वदेशाभिमान

ऊपर-ऊपरी देखने से हमारे कुटुम्ब में बहुत-सी विदेशी रीति रिवाज प्रचलित दिखलाई पड़ेंगी। परन्तु आन्तरङ्ग दृष्टि से देखा जाय, तो उसमें राष्ट्राभिमान की ज्योति, मन्द स्वरूप में कभी दिखलाई नहीं पड़ेगी। स्वदेश के प्रति मेरे पिता में जो अकृत्रिम आदर था, वह उनके जीवन में अनेक क्रांतियाँ होने पर भी कम नहीं हुआ और वही आदर उनके पुत्र पौत्रों में भी स्वदेशाभिमान के रूप में अवतरित हुआ है। मैं जिस समय के सम्बन्ध में लिख रहा हूं, उस समय स्वदेश प्रीति को कोई विशेष महत्व प्राप्त न था। उस समय देश के सुशिक्षित लोगों ने अपनी जन्मभूमि की भाषा और भावना का बहिष्कार कर रखा था। परन्तु ऐसी अवस्था में भी मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने बंगला साहित्य की वृद्धि के लिये सतत प्रयत्न किया। मुझे याद है कि एकबार हमारे किसी नवीन सम्बन्धी के यहाँ से आये हुए अंग्रेजी पत्र को पिताजी ने ज्यों का त्यों वापिस कर दिया था।

हमारे घराने की सहायता से स्थापित 'हिन्दू मेला' नामक एक वार्षिक यात्रा भरा करती थी। इसके व्यवस्थापक बाबू नवगोपाल मित्र बनाए गए थे। संभवतः बड़े अभिमान से भारतवर्ष को अपनी मातृभूमि प्रकट करने का यही पहला प्रयत्न होगा। इन्हीं दिनों मेरे दूसरे ज्येष्ठ भ्राता ने 'भारतेजय' नामक

लोकप्रिय राष्ट्र गीत की रचना की। इस मेले के मुख्य उद्देश जन्मभूमि की धवलकीर्ति से भरे हुए पद गाने, स्वदेश प्रीति से लबालब भरी हुई कविता पढ़ने, देशी उद्योग-धन्धे और हुनर की प्रदर्शनी करने तथा राष्ट्रीय बुद्धिमत्ता और कौशल्य को उत्तेजन देना ये थे।

लार्ड कर्जन के दिल्ली दरबार के अवसर पर मैंने एक गद्य लेख लिखा। यही लेख लार्ड लिटन के समय पद्य में लिखा था। उस समय की अङ्गरेजी सरकार रशिया से भले ही डरती हो, परन्तु वह एक चौदह वर्ष के बालक से थोड़े ही डरती थी। इसलिये उस कविता में मैंने अपने वय के अनुसार कितने ही तीव्र विचार क्यों न प्रगट किये हों मगर उसका प्रभाव 'कर्नाट इन चौक' से लेकर पुलिस कमिश्नर पर्यन्त किसी भी अधिकारी पर दिखलाई नहीं पड़ा और न लंडन टाइम्स ने ही न्याय रक्षकों की इस उदासीनता पर कोई अग्निमय पत्र व्यवहार प्रकाशित किया। मैंने हिन्दू मेले में अपनी यह कविता एक वृक्ष के नीचे पढ़ी। उस समय श्रोताओं में नवीनसेन नामक एक कवि भी थे। उन्होंने ही मेरे बड़े होने पर इस घटना की स्मृति याद दिलाई थी।

मेरा चौथा भाई ज्योतिरिन्द्र एक राजकीय संस्था का जनक था। इस संस्था के सभापति राजनारायण बोस थे। कलकत्ते की एक आड़ी-तिरछी गली के एक टूटे-फूटे मकान में इस सभा की बैठक हुआ करती थी। इसके कार्य क्रम के संबंध में लोग सर्वथा अनजान थे। इसके विचार गुप्त रीति से प्रगट किये जाते थे। इसी कारण इस सभा के सम्बन्ध में गूढ़ता और डर भाग गई था। वास्तव में ऐसा जान पड़ता है हमारे आचार-विचार में सरकार और जनता के भय का कारण कुछ भी नहीं था। दोपहर का समय हम कहाँ व्यतीत करते हैं, इसकी

कल्पना हमारे घर के दूसरे लोगों का कुछ भी नहीं था। सभी स्थान के आगेवाले दरवाजे पर सदा तालालगा रहता था। सभी के कमरे में आने के चिन्हस्वरूप कए 'वेद मंत्र' नियत था। और हम सब आपस में धारे-धारे संभाषण करते थे। हमको भयभीत करने के लिये इतनी ही बातें काफ़ी थीं। दूसरी बातों की जरूरत ही न थी। यद्यपि मैं बालक था, तो भी इस संस्था का सभासद हो गया था। हमारे आस-पास एक प्रकार की उन्माद वायु का ऐसा कुछ वातावरण फैल गया था कि हम उत्साह रूपी पंखों पर बैठे हुए उड़ते दिखाई पड़ते थे। हमें संकोच, अपने सामर्थ्य पर अविश्वास या भय का नाम भी मालूम न था। केवल उत्साह की उष्णता में तपते रहना ही हमारा एक मात्र साध्य था।

शौर्य में ही भले ही कभी-कभी कुछ दोष उत्पन्न हो जाते हों, परन्तु शौर्य के सम्बन्ध में प्रतीत होनेवाला आदर उत्पन्न मनुष्य के अतःकरण के अन्तरतम प्रदेश में छिपा रहता है इसमें संदेह नहीं। सब देशों के वांङमय में यह दिखलाई पड़ेगा कि इस आदर को बनाए रखने के लिये अविश्रांत प्रयत्न किए जा रहे हैं और विशिष्ट लोक समाज किसी भी विशेष परिस्थिति में इन उत्साहजनक आघातों की अविश्रांत मार को किसी भी तरह टाल नहीं सकता। हमको भी अपनी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाकर, इकट्ठे बैठकर, बड़ी-बड़ी बातें बनाकर और खूब तेजस्वी गाने गाकर इन आघातों का उत्तर देना पड़ता और इस रीति से संतोष करना पड़ता था।

मनुष्य जाति के शरीर में भरी हुई और अत्यन्त प्रिय शक्ति का बाहर प्रकट न होने देकर उसके निकलने के सर्व

द्वारों को बंद करने से हीन श्रेणी के लोगों में अद्भुत अस्वाभाविक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसमें संदेह नहीं। साम्राज्य की व्यापक शासन-व्यवस्था में केवल यन्त्रों का गला घुटा रखने से ही काम न चलेगा। यदि साहसपूर्ण उत्तरदायित्व के काम सिर पर लेने का अवसर नहीं मिले, तो मनुष्य की आत्मा व मन से मुक्त होने के लिये छटपटाने लगता है और इसके लिए वह कंटीले पथरीले एवं अविचारपूर्ण साधनों के अवलम्बन की इच्छा करने लगता है। मुझे विश्वास है कि सरकार ने यदि इस समय संशयमग्न होकर कोई भयदायक मार्ग ग्रहण किया होता तो इस मंडल के तरुण सभासद अपने कार्य का पर्यवसान, जो सुखमय करना चाहते थे, वह दुःखद हुआ होता। इस मंडल के दिनों का अब अन्त हो गया है, परंतु इसमें फोर्ट विलियम की एक भी ईंट हिलने नहीं पाई है। इस मंडल के कार्यों का स्मरण होने पर आज भी हमें हँसी आए बिना नहीं रहती।

मेरे भाई ज्योतिरींद्र ने भारतवर्ष के लिये एक 'सर्वांग पोशाक' का आविष्कार किया था और उसके नमूने सभा मंडल के पास भेजे थे। उसका कहना था कि धोती दक्षिणा-कांची है और पायजामा विदेशी। उसने इन दोनों को मिलाकर एक ऐसा ही ढंग निकाला, जिससे धोती को तो बेइज्जत होना पड़ी पर पायजामे का कुछ भी सुधार न हो सका। उसने पायजामे को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। उधर पगड़ी और टोपी का मिश्रण कर के उत्साही सभासदों ने भी उसकी सराहना करने में जरा भी आगा-पीछा नहीं किया। मेरा भाई बिना किसी संकोच के दिन-दहाड़े मित्र, परिजन, नौकर चाकर सबके सामने इसके [illegible] भी यह पोशाक पहिनने लगा। गा.घ.रा

रंग के मनुष्य ऐसा धैर्य नहीं दिखा सकते। अपने देश के लिये प्राण देनेवाले बहुतसे भारतवासी शायद निकलेंगे, पर मेरा विश्वास है कि अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए नवीन तरह की राष्ट्रीय पोशाक पहिनकर आम रास्ते पर निकलने का साहस बहुत थोड़े लोग कर सकेंगे।

मेरा भाई हर रविवार को अपनी मंडली के साथ शिकार को जाया करता था। इस मंडली में कुछ अनिमन्त्रित लोग भी शामिल हो जाते थे, जिनमें-से बहुतों को हम पहिचानते भी न थे। हमारी इस मंडली में एक सुनार, एक लोहार और दूसरी समाजों के सब तरह के लोग रहते थे। इस शिकार के दौरे में रक्तपात कभी नहीं होता था। कम से कम मैंने तो रक्तपात होते कभी नहीं देखा। इस मण्डली के कार्यक्रम में विचित्रता और मजा बहुत रहती थी। किसी को बिना मारे या बिना घायल किए शिकार कैसा? परन्तु हमारा शिकार तो ऐसा ही होता था। मारने या घायल करने का महत्व हमारी इस मण्डली में नहीं माना जाता था। बिलकुल सुबह शिकार पर जाने के कारण मेरी भौजाई हमारे साथ पूड़ियाँ व खाने के दूसरे पदार्थ खूब बाँध दिया करती थी। शिकार में मिलनेवाली जय-पराजय से इन वस्तुओं का कोई सबंध नहीं था। अतः हमें भूखे पेट कभी नहीं आना पड़ता था।

माणिक टोला के आस-पास बगीचों या उद्यान गृहों की कमी नहीं है। शिकार खतम होने पर हम किसी एक उद्यान गृह में चले जाते और जात-पाँत का भेद किए बिना किसी एक तालाब के घाट पर बैठकर साथ वाले पदार्थों पर हाथ साफ करते थे। इनमें-से हम रत्तीभर भी नहीं छोड़ते थे। हाँ, हम

जिस स्वदेशाभिमान की ज्योति से इनकी उत्पत्ति हुई थी, यदि उस ज्योति का अल्पांश भी उन्होंने ग्रहण किया होता, तो आज भी वे बाजार में लाने योग्य नहीं होतीं।

एक बार हमें यह समाचार मिला कि कोई एक बंगाली विद्यार्थी भाप से चलनेवाला हाथ का करघा तैयार करने का प्रयत्न कर रहा है। समाचार मिलते ही तत्क्षण हम उसे देखने को गए। उस करघे के प्रत्यक्ष उपयोग के सम्बन्ध में हममें से किसी को भी ज्ञान न था, तो भी उसके उपयोग होने की विश्वासपूर्ण आशा में हम किसी से हटनेवाले नहीं थे। यन्त्रों को खरीद करने के कारण उस बेचारे पर थोड़ा-सा कर्ज हो गया था, हमने वह चुकवा दिया। कुछ दिनों के बाद बृज बाबू अपने सिर पर एक मोटा-सा टाविल लपेटे हुए आए और 'देखो मैं अपने करघे पर बना हुआ हूँ' इस तरह जोर से चिल्लाते हुए हाथ ऊँचा कर प्रसन्नता की धुन में नाचने लगे। उस समय बृज बाबू के बाल सफेद होने लगे थे, तो भी उनमें इसप्रकार का उत्साह हाल रहा था। अन्त में कुछ व्यवहार चतुर लोग हमारे समाज में आ मिले और उन्होंने अपने व्यवहार ज्ञान का फल चखाना शुरू करके हमारा यह छोटा-सा नन्दन वन उजाड़ कर डाला।

जिस समय राजनारायण बाबू से मेरा पहले-पहल परिचय हुआ, उस समय उनकी बहुगुण-सम्पन्नता ग्रहण करने योग्य मेरी अवस्था न थी। अनेक विसदृश गुणों का उनमें मिश्रण हुआ था। उनके सिर और दाढ़ी के बाल सफेद हो गए थे, तो भी हममें से छोटे से छोटे बालक जितने ही छोटे थे। बाहरी [illegible] मानो [illegible] सम्हाल रखने के लिये उनके शरीर ने शुभ्र कवच

ही धारण किया हो। उनकी अगाध विद्वता का उन बातों पर जरा भी परिणाम नहीं हुआ था और रहन-सहन भी उनकी त्यों सादी थी। उनमें वृद्धावस्था का गांभीर्य, अस्वास्थ्य, सांसारिक क्लेश, विचारों का गुरुत्व और विविध ज्ञान सचय काफी तायदाद में था, तो भी इन बातों में-से किसी एक भी बात के कारण उनके निर्व्याज मनोहर हास्य रस में कभी भी नहीं हुई। इङ्गलिश कवि रिचर्डसन के वे अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। इङ्गलिश शिक्षा के वातावरण में ही उनका लालन पालन हुआ था, तो भी बाल्यावस्था के प्रतिकूल संस्कारों को दूर कर बड़े प्रेम और भक्ति के साथ वे बङ्गाली वाङ्मय के भक्त बने थे। यद्यपि वे अतिशय सौम्यवृत्ति के थे, तथापि उनमें तीक्ष्णता कम न थी, और देशाभिमान की ज्वाला ने उनमें इतनी जगह कर ली थी कि यह मालूम देता था कि मानों यह बङ्गाला देश के अरिष्ट और दीन दशा को जलाकर राख में मिला देने के विचार में है। वे सुहास्य बिलसित, मिष्ट स्वभावी, उत्साहपूर्ण और आमरण तारुण्य से भरे हुए थे। उनकी ऐसी योग्यता थी कि मेरे देशबंधु इस साधुश्रेष्ठ व्यक्ति का चरित्र अपने स्मृति पटल पर खोदकर उसका सदा जय जयकार करते रहें।

२२

भारती

मैं जिस समय के सम्बन्ध में लिख रहा हूँ, वह समय प्रायः मेरे में आनन्द की लहरें उत्पन्न करनेवाला था। बिना किसी हेतु विशेष के, प्रचलित बातों के विरुद्ध जाने की प्रबल इच्छा से मैंने अनेक निद्रारहित रात्रियाँ इन दिनों में व्यतीत की होंगी। पढ़ने की जगह धुँधले प्रकाश में मैं अकेला ही बैठा बहुत देर तक पढ़ा करता था। बहुत दूर ईसाइयों का एक चर्च था। वहाँ हर पन्द्रह मिनट पर घंटे बजते थे। मानो व्यतीत होनेवाले प्रत्येक घंटे का नीलाम पुकारा जाता हो। उधर नीमतोला श्मशान भूमि की ओर चितपुर मार्ग से शव को ले जानेवालों की 'हरि बोलो भाई हरि बोलो' की करुण ध्वनि भी आकर कान पर बीच बीच में टकरा जाती थी। कभी-कभी गर्मी की चाँदनी रातों में बागों पर हुए कुंजों की छाया और चन्द्र-प्रकाश में मैं एक अस्वस्थ पिशाच के समान घूमा करता था।

इसे यदि कोई निरी भावुकता समझकर इसकी उपेक्षा करेगा, तो यह भूल होगी। इतनी विशाल और अतिशय प्राचीन पृथ्वी भी कभी-कभी अपनी शान्ति और स्थिरता को छोड़कर हमें विस्मित कर डालती है। जिस समय पृथ्वी नवयुवावस्था में थी, उसका ऊपरी आवरण पकड़कर उसे कठिन बना नहीं

हुआ था, उस समय उसके गर्भ में से भी ज्वालाएँ फूटती थीं और भयानक लीलाएँ करते हुए उसे बड़ी मजा मालूम होती थी। मनुष्य की भी ऐसी ही दशा है। जब वह तारुण्य में प्रवेश करता है, तब उसमें भी यही बात होती है। आयुष्य-क्रम को दिशा को निश्चित करनेवाली बातों को जब तक कोई स्वरूप प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य में भी खलबली पैदा होना एक स्वाभाविक बात है।

इन्हीं दिनों मेरे भाई ज्योतिरीन्द्र ने बड़े भाई के सम्पादकत्व में 'भारती' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करने का निश्चय किया। हमारे उत्साह के लिये यह एक नवीन खाद्य मिला। इस समय मेरी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। मेरा नाम भी सम्पादकों की सूची में रखा गया था। थोड़े ही दिनों बाद मैंने अपने तारुण्य के गर्व को शोभा देनेवाली धृष्टता से 'मेघनाद बध' की समालोचना 'भारती' में लिखी। जिस तरह कच्चे आमों में खटाई होना स्वाभाविक है, उसी तरह दुर्वचन और निरर्थक टीका-टिप्पणियाँ अप्रगल्भ समालोचकों के गुण हैं। मालूम होता है कि अन्य शक्तियों के अभाव में दूसरों को उपमर्द करनेवाली शक्ति अधिक तीव्र होती है। इसप्रकार मैंने उस अमर महाकाव्य पर शस्त्रप्रहार कर स्वयं अमर होने का प्रयत्न किया। बिना किसी सङ्कोच के 'भारतीय' में लिखा हुआ यह मेरा पहिला गद्य लेख था।

भारती के प्रथम वर्ष में मैंने 'कवि कहानी' नामक एक लम्बी-चौड़ी कविता भी प्रकाशित की थी। इस समय इस कविता के लेखक ने अपने अस्पष्ट और अतिशयोक्ति प्रचुर काल्पनिक चित्रों की अपेक्षा जगत का और किसी प्रकार का अनुभव प्राप्त नहीं

किया था। अतएव यह स्वाभाविक था कि इस 'कवि कहानी' नामक कविता के नायक कवि का चित्र लेखक की वर्तमान दशा का प्रतिबिंब न होकर उसकी भावी कल्पना अथवा महत्वाकांक्षा का प्रतिबिंब हो। परन्तु इसपर से यह भी नहीं कहा जा सकता कि लेखक स्वयं उस चित्र के समान होने की इच्छा रखता था। लेखक के सम्बन्धी लोगों को जितनी उसमें आशा थी, उससे कहीं अधिक भड़कीले रंगों में यह चित्र चितेरा गया था। इस कविता में अपने सम्बन्ध में लोगों से कहलाया गया था कि वाह! कवि हो तो ऐसा हो। विश्वप्रेम की बातें कहने में बड़ी महत्व और देखने में भव्य हुआ करती हैं। अतः इस कविता में इसकी भी खूब रेल पेल थी। जब तक किसी भी सत्य बात का मन पर प्रकाश नहीं पड़ता और दूसरों के शब्द ही निज की संपत्ति हुआ करते हैं, तब तक सादगी, विनयशीलता और मर्यादा होना अशक्य है और इस कारण जो बात स्वभावतः भव्य हुआ करती है, उसे और भी अधिक भव्य प्रकट करने का मोह होता है। इस मोह के प्रदर्शन में उस कवि की कमजोरी और उपहास का प्रदर्शन हुए बिना नहीं रहता।

मैं यदि लज्जित होकर बाल्यावस्था के अपने लेखन-व्यापार की ओर देखता हूं तो मुझे बाल्यावस्था और उसके बाद के लेखों में भी परिणाम की ओर विशेष ध्यान देने के कारण यही दुःख अवश्य स्वभाव का अर्थ विपरीत देखने को मिलता है और उससे मुझे भय ही होता। यद्यपि यह निस्संदेह है कि बहुत सा बार मेरे विचार मेरी भाषा की कठोरता में दब जाते हैं। परन्तु मुझे विश्वास है कि कालान्तर में सत्य मेरा सदा स्वरूप प्रकट किये बिना न रहेगा।

यह 'कवि कहानी' ही पुस्तक रूप में भारत के सन्मुख आई।

वाली मेरी पहिली कृति थी। जब मैं अपने बड़े भाई के साथ अहमदाबाद गया हुआ था, तब मेरे एक उत्साही स्नेही ने उसे छपवा डाला और एक प्रति मेरे पास भेजकर मुझे आश्चर्य चकित कर दिया था। मेरा कहना यह नहीं है कि उसने यह काम अच्छा किया था, परन्तु उस समय मेरी भावना सतप्त न्यायाधीश के समान भी नहीं थी, जो मैं उसे दंड देता। तो भी उसे दंड मिल ही गया। मेरे द्वारा नहीं, पर पाठकों के द्वारा। क्योंकि मैंने यह सुना था कि पुस्तकों का भार विक्रेताओं की आलमारी पर और अभागे प्रकाशक के मन पर बहुत दिनों तक रहा।

जिस अवस्था में मैं भारती में लेख लिखने लगा, उस अवस्था में लिखे हुए लेख प्रायः प्रकाशित करने योग्य नहीं होते। बड़ी अवस्था में पश्चात्ताप करने के लिये बाल्यावस्था में में लिखी हुई पुस्तक छाप कर रखने के समान दूसरा कोई साधन नहीं है। परन्तु इससे एक लाभ भी है वह यह कि अपने लेख छपे हुए देखने की मनुष्य में जो अनिवार्य इच्छा होती है वह बाल्यकाल में ही इस तरह नष्ट हो जाती है और साथ में अपने पाठकों की, उनके अपने सम्बन्ध के मतों की, छपाई की, शुद्धि-अशुद्धि की चिन्ता भी बाल्यावस्था के रोगों के समान नष्ट हो जाती है। फिर बड़ी अवस्था में लेखक को निरोगी और स्वस्थ मन से लेखन व्यवसाय करने का सुअवसर प्राप्त होता है।

बङ्गाली भाषा अभी इतनी पुरातन नहीं हुई कि वह अपने सामर्थ्य से अपने उपासकों के स्वैर-साधन को रोक सके। लेखक को अपने लेखन के अनुभव पर से ही स्वतः को नियंत्रण करनेवाली शक्ति पैदा करनी पड़ती है। इसलिये बहुत समय

२३

अहमदाबाद

'भारती' का दूसरा वर्ष प्रारम्भ होने पर मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने मुझे विलायत ले जाने का विचार किया। पिताजी की सम्मति के सम्बन्ध में सन्देह था, परन्तु उन्होंने भी सम्मति दे दी। इसे मैं परमेश्वर की एक देनगी ही मानता हूँ। इस अकल्पित योगायोग से मैं चकित हो गया। जब मेरा विलायत जाना निश्चित हुआ, उन्हीं दिनों मेरे भाई की नियुक्ति न्यायाधीश के पद पर अहमदाबाद में की गई थी। अतः पहिले मैं उनके पास अहमदाबाद गया। वहाँ वे अकेले ही रहते थे। मेरी भौजाई उन दिनों अपने बाल-बच्चों सहित इङ्गलैंड में थीं। इसलिये उनका घर एक तरह से सूना सा था।

अहमदाबाद में न्यायाधीश के रहने के लिये एक 'शाहीबाग' नामक स्थान निश्चित है। यह स्थान बादशाही जमाने का है, और उन दिनों इसमें बादशाह रहते थे। अब यह बड़ी और भव्य इमारत है। इसके चारों ओर कोट और गची थी। कोट के एक ओर उससे लगी हुई साबर-मती नदी है। वे गर्मी के दिन थे। अतः नदी का जल सूख गया था और क्षीण धारा के रूप एक ओर बहता था। जब मेरे भाई दोपहर के समय कचहरी चले जाते, तब मैं अकेला ही रह जाता। घर सुनसान हो जाता

पूछना है ? समझ में आओ या मत आओ, मैं तो इसे बार-बार पढ़ने लगा।

उस प्रासाद के मीनार के सबसे ऊपर के कमरे में मेरा निवास स्थान था। यह स्थान बिलकुल ही एकांत में था। यहाँ मुझे किसी का भी साथ न था। हाँ, यहाँ मधुमक्खी का छत्ता था वह जरूर मेरा साथी था। रात्रि के निविड़ अन्धकार में मैं वहाँ अकेला ही सोता था, बीच-बीच में एक-दो मक्खी उस छत्ते में से मेरे पर गिर पड़ती थी। ज्योंही नीद में मैं करवट बदलता, त्योंही वह मेरे नीचे दबी हुई मिलती। हम दोनों को ही यह आपसी भेंट श्रमदायक होती थी। मेरे शरीर के नीचे दब जाने से उसे वेदना और उसके काटने से मुझे वेदना।

मेरे में अनेक लहरें उठा करती थीं। इनमें से चाँदनी के प्रकाश में नदी से लगी हुई गची पर इधर-से-उधर घूमना भी एक लहर थी। चन्द्र प्रकाश में आकाश की ओर देखते हुए कुछ न कुछ विचार में मग्न होकर मैं घूमता रहता था और इस घूमने में मैंने अपनी कविताओं के लिये गायन स्वर मिलाया और बहुत-से पदों की रचना की। इन्ही में-से 'गुलाब प्रमदा' के सम्बोधन में लिखा हुआ पद भी है, जो आगे जाकर छपा, और अब भी मेरे दूसरे पदों के साथ-साथ वह छापा जाता है। अहमदाबाद में मेरा दूसरा कार्यक्रम अंग्रेजी पुस्तकों को बाँचने का था। जब मुझे यह मालूम हुआ कि मेरा अंग्रेजी का ज्ञान बिलकुल अपूर्ण और उसे बढ़ाने की जरूरत है, तब मैंने 'कोश' की सहायता से पुस्तकें बांचना शुरू किया। बहुत छोटी अवस्था से मुझे एक ऐसी आदत पड़ गई थी कि समझने पर भी मैं पुस्तक पूरी किए बिना नहीं छोड़ता था। समग्र पुस्तक का अर्थ

न समझने पर भी बीच-बीच में जो कुछ भी मैं समझता था उसीके आधार पर आगे-पीछे का सन्दर्भ, कल्पना से मिला लेता था और उसमें जो मुझे अर्थज्ञान होता, उसी से मैं संतोष प्राप्त कर लेता था। इस आदत का भला-बुरा परिणाम आज भी मुझे भोगना पड़ता है।

२४

विलायत

इस प्रकार अहमदाबाद में छ महीने बिताकर हम विलालयत को रवाना हुए। बीच-बीच में मैं अपने भानजों को और 'भारती' को प्रवास वर्णन लिखा करता था। अब मुझे मालूम होता है कि यदि मैंने उस समय प्रवास वर्णन नहीं लिखा होता, तो अच्छा होता। क्योंकि मेरे हाथ से निकलते ही वे वर्णन छप कर जाहिर हो गए। उनका वापिस आना मेरे हाथ नहीं रहा। इन पत्रों के सम्बन्ध में मुझे जो चिन्ता हुई, उसका कारण यह है कि ये यौवनोचित दुर्गति के एक रूप विशेष थे। साहस के आरम्भ का काल ऐसा ही होता है। उस समय जगत का अनुभव नहीं रहता और न यह कल्पना ही होती है, कि लौकिक जगत की अपेक्षा काल्पनिक जगत भिन्न प्रकार का होता है। उस समय कल्पना शक्ति पर ही अवलम्बित रह

है। नवीन रक्त उछाले मारता है। ऐसे समय में मानसिक उन्नति का क्षेत्र बढ़ाने के लिये विनय सम्पन्नता एक सर्वोत्कृष्ट साधन है, यह सादी बात भी मन को नहीं पटती। इस समय दूसरे के कहने को समझना, उसके गुण का आदर करना, उसकी कृति के सम्बन्ध में उच्च मत रखना दुर्बलताओं और पराजय का चिन्ह माना जाता है और दूसरे के प्रभाव को स्वीकार करने की प्रवृत्ति नहीं रहती। वाद-विवाद करके दूसरे को पराजित करने और अपना प्रभाव जमाने की जब इच्छा होती है, तब शाब्दिक अग्नि बाणों की वर्षा हुए बिना नहीं रहती। मेरे पत्रों की भी करीब-करीब यही स्थिति थी। दूसरे को नाम रखकर, दूसरे के कहने का खंडन करके अपना बड़प्पन जमाने की खुमखुमी मेरे रक्त में भी खेल रही थी। यदि सरलतापूर्वक और दूसरे की मुहब्बत का खयाल करके मैंने अपने मत प्रतिपादन करने का उन पत्रों में प्रयत्न किया होता, तो आज उन्हें देखकर मुझे एक प्रकार का आनन्द होता और हँसी आए बिना नहीं रहता। परन्तु बात इसके बिलकुल ही खिलाफ थी। इसीलिये अब मुझे यह मालूम होता है कि मैंने किसी कुमुहूर्त में उन पत्रों को लिखना प्रारम्भ किया था।

इस समय मेरी अवस्था सत्रह वर्ष की थी। जग का मुझे बिलकुल ही अनुभव नहीं था। क्योंकि इस समय तक बाह्य जगत से मेरा कभी कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था। जगत के व्यवहारों से मैं एकदम अलिप्त था। ऐसी व्यवहार ज्ञान शून्य स्थिति में विलायत सरीखे देश को, जहाँ की परिस्थिति एव समाज अपने देश की परिस्थति एवं समाज से भिन्न है, जा रहा था। वह ठहरी विलायत। वहाँ का समाज एक महासागर। जब कि एक सादे और उथले प्रवाह में मैं भी चार हाथ नहीं

मार सकता, तब फिर इस महासागर की क्या बात ? यहाँ मैं कैसे तैर सकता था ? इसी बात का भय मुझे रह रहकर लगता था । परन्तु 'बासटन' में मेरी भौजाई अपने बाल-बच्चों के साथ रहती थी पहले-पहल हम वहीं गए और उनके आधार से मैं पहिली झंझट में तो पार हो गया ।

उस समय शीत ऋतु नवम्बर का आ पहुँची थी । एक दिन रात को बैठे हुए हम गप्पें मार रहे थे कि लड़के 'बर्फ गिर रही है,' यह कहते हुए हमारे पास दौड़कर आये । यह सुनकर मैं चकित हो गया और उसे देखने के लिये बाहर गया । बाहर भी और कड़ाके की ठंड पड़ रही थी और वह शरीर को भेदे डालती थी । श्वेत शुभ्र बादल आकाश से प्रकाश व्याप्त था और सारे प्रदेश बर्फ मय ही बनने के कारण ऐसा मालूम होता था मानो उसने शुभ्र कवच धारण किया हो । इमारतें, उपवन, वृक्ष-लता, पल्लव आदि कुछ न दिखकर जहाँ-तहाँ शुभ्रता ही शुभ्रता दिखलाई पड़ती थी । सृष्टि का यह दृश्य मेरे लिए अपरिचित था । भारतवर्ष में जो सृष्टि-सौंदर्य मेरे अनुभव में आया था, वह इससे भिन्न था । उस समय मुझे यह भान हुआ कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ । मैं अपनी सजगता पर भी सन्देह करने लगा । उस समय नजदीक का बोध या बहुत दूर पर सन्देह होती थी । इधर बाहर देखने से ही मन को चकित कर देनेवाला दृष्ट सौन्दर्य दिखाई पड़ता था । इसके पहिले सृष्टि-सौन्दर्य का ऐसा मंदह मैंने कभी नहीं देखा था ।

अपनी भौजाई के प्रेमपूर्ण घर के आश्रय में लड़कों के साथ हँसते कूदते खेलते कूदते और गपशप लगाते हुए मेरे दिन आनन्द में व्यतीत होने लगे । मेरे इंजीनियरिंग व्यवसाय की

सुनकर उन्हें बड़ा आनन्द होता था। यद्यपि मैं उनके खेल-कूद में अन्तःकरणपूर्वक शामिल होता था और उससे मुझे आनन्द भी मिलता था, परन्तु मेरे इंगलिश उच्चारण में-से उन्हें बड़ी मजा मालूम होती थी और वे मेरी मजाक उड़ाते। Warm शब्द में a (ए) और Worm शब्द में के o (ओ) के उच्चारण में तर्कशास्त्र की कसौटी पर ठहर सकने योग्य कोई फ़र्क नहीं है। मुझे उन बालकों को यह समझाते-समझाते नाक में दम आ जाता था कि भाई इस तरह के उच्चारण के लिये कोई एक खास नियम नहीं है। परन्तु वे क्या समझनेवाले थे और इसमें मेरा भी क्या दोष था? अंग्रेज़ी की वर्ण-रचना पद्धति ही जबकि सदोष है। इसकी न तो कोई पद्धति और न नियमबद्धता। परन्तु ऐसी सदोष पद्धति का उपहास न होकर उपहास की मार मुझे सहन करनी पड़ती थी। इसे मैं अपने दुर्दैव के सिवाय और क्या कह सकता हूँ?

इस अर्से में बालकों को किसी-न-किसी बात में लगा रखकर उनका मनोरंजन करने के भिन्न-भिन्न मार्ग ढूंढ निकालने में मैं निष्णात हो गया। इसके बाद कई बार मुझे इस स्वयं सम्पादित कला की जरूरत पड़ी और आज भी इसकी बहुत जरूरत प्रतीत होती है। परन्तु उस समय जिस प्रकार अगणित नई-नई युक्तियाँ सूझा करती थीं, वह बात अब नहीं रही। बालकों के आगे अपने अन्तःकरण को खुला करने का यह मुझे पहला ही अवसर था और इस अवसर का मैंने यथेच्छ उपयोग भी किया।

हिन्दुस्तान में मिलनेवाले गृह-सौख्य के बजाय समुद्र पार के गृह-सौख्य को प्राप्त करने के लिये तो मैं विलायत भेजा ही

पालित विलायत में ही थे। उन्हें यह भास हुआ कि इस रीति से मेरे कानून पढ़ने का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा अतः उन्होंने मेरे भाई को इसके लिये तैयार किया कि मैं लंडन भेजा जाऊँ और वहाँ किसी के घर पर रहकर अभ्यास करूँ। अतः मैं लंडन भेजा गया। लंडन में रहने की व्यवस्था तारक बाबू ने की। जिस कुटुम्ब में यह अवस्था की गई थी, वह रिजेंट बाग के सामने रहा करता था। जब मैं लंडन गया, तब खूब सर्दी पड़ रही थी। ऊँचे ऊँचे वृक्षों पर सर्दी के जोर के मारे एक भी पत्ता नहीं रहा था और उनकी शाखाएँ बर्फ से ढक गई थीं। चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ दिखलाई पड़ती थी।

पहले-पहल आनेवाले के लिये लंडन की ठंढ बड़ी त्रासदायक होती है। शीत ऋतु में इतना त्रासदायक स्थल शायद ही कोई दूसरा होगा। अड़ोस-पड़ोस में मेरी किसी से भी जान-पहिचान नहीं थी और किसी से पहिचान करूँ भी कैसे। अतः बाह्य जगत को इकटक दृष्टि से देखते हुए खिड़की में अकेले बैठे रहने के दिन मेरे जीवन में पुनः प्राप्त हुए। इस समय सृष्टि-वैभव चित्ताकर्षक नहीं था। सृष्टि देवता क्षुब्ध हो रहे थे और मालूम होता था कि मानों उसके मस्तिष्क पर क्रोध के चिन्ह स्वरूप सलें पड़ी हुई हैं। आकाश धूसर हो गया था और मृत मनुष्य के निस्तेज नेत्रों के समान प्रकाश फीका पड़ गया था। क्षितिज प्रदेश संकुचित हो गया था। इस तरह यह सब दृश्य भयंकर दिखलाई पड़ता था और इस बड़े भारी विशाल जगत में आदरातिथ्य से भरे हुए मधुर स्मित का पूर्ण अभाव हो गया था। घर के बाहर की यह दशा थी और घर के भीतर उत्तेजन मिलने का कोई भी साधन नहीं था। मेरे रहने का स्थान बहुत साधारण रीति से सजा हुआ था। दीवानखाने को सजाने

लायक प्रायः कोई वस्तु वहाँ पर नहीं थी। हाँ, बहलने के लिये एक बाजे की पेटी जरूर थी। दिन अस्त होते ही मैं पेटी लेकर बैठ जाता और चाहे किस तरह उसे बजाता था। कभी-कभी कोई हिन्दुस्तानी गृहस्थ मुझसे मिलने को आया करते थे और इधर-उधर की बातें करके जब वे जाने को तैयार होते, तब उनसे अल्प परिचय होने पर भी, उन्हें न जाने देने की मुझे इच्छा होती और इसके लिये उनका पल्ला पकड़कर बैठाने की बार-बार उत्कंठा हुआ करती थी।

यहाँ मुझे लैटिन सिखाने के लिये एक शिक्षक नियत किये गए थे। इनका शरीर बहुत ही दुबला था। कपड़े पुराने पहिनते थे। सर्दी का कष्ट सहन करने के लिये पत्र विहीन वृक्षों की अपेक्षा उनमें अधिक शक्ति नहीं थी। उनकी उम्र कितनी मुझे मालूम नहीं है पर जितनी थी उससे अधिक बड़े दिखलाई पड़ते थे। पढ़ाते-पढ़ाते बीच में ही उन्हें [illegible] जाता था। अतः वे शून्य मनस्क होकर लज्जित हो जाते थे। उनके घर के आदमी उन्हें प्रायः सनकी समझा करते थे। इन्होंने एक तत्व की खोज की थी और उसी की चिन्ता में रात-दिन लगे रहते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक युग के मानव समाज में कोई एक ही कल्पना प्रमुखता से उद्भूत होती है। संस्कृति की न्यूनाधिकता के कारण इस कल्पना का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता हुआ भी मूल भूत कल्पना एक ही प्रकार की रहती है। इस मूल भूत कल्पना का जनक कोई एक समाज विशेष होकर अन्य समाजें [illegible] पद्धति के रूप में उसे स्वीकार करती हों, यह बात नहीं है। किन्तु भिन्न-भिन्न समाजों में एक ही समय में एक ही प्रकार के [illegible] का [illegible] हुआ दिखलाई पड़ता है। यद्यपि इस सर्वत्र

शोधित प्रमेय को सिद्धि के लिये वे प्रत्यक्ष प्रमाण का संग्रह करने और उसे लिखने में सदा लगे रहते थे। यही एक व्यवधान उन्हें चैन नहीं लेने देता था। किसी भी उद्योग में उनका चित्त नहीं लगता था और पेट भरने का दूसरा कोई साधन नहीं था। अतः घर में चूहे लोटा करते थे। फिर शरीर पर ठीक वस्त्र कहाँ से आते? सन्तान में उनके लड़कियाँ थीं। उनका इस सिद्धांत पर विश्वास नहीं था और वे अपने पिता को खोज का बहुत थोड़ा आदर करती थीं। वे अपने पिता को विक्षिप्त समझा करतीं और मैं समझता हूँ कि बार-बार उनको फटकारती भी रही होंगी। कभी-कभी उनके चेहरे पर एकदम आनन्द की छटा पसर जाती और उसपर-से लोग समझते कि उन्हें कोई नवीन प्रमाण अपने सिद्धान्त को प्रस्तावित करने के लिये मिला होगा। ऐसे समय में भी उनकी बात में मैं चित्त लगाया करता था। उनकी स्फूर्ति देखकर मुझे भी आवेश आता था, परन्तु कभी-कभी इससे भी उलटा होता था। उनका सब आनन्द भाग जाता, आवेश नष्ट हो जाता और दुख में इतने चूर हो जाते कि उन्हें सिर पर लिया हुआ यह भार असह्य हो जाता था। ऐसे समय में हमारी पढ़ाई की बात का क्या पूछना? पद-पद पर ठहरना और अन्यमनस्क होकर किसी एक ओर टकटकी लगाकर देखते रहना। उस समय लैटिन व्याकरण की पहली पुस्तक मैं पढ़ रहा था, परन्तु इस ओर उनका मन काहे को लगने लगा। पुस्तक आगे रखी हुई है, आकाश में हवा खा रहा है। शरीर से दुर्बल और उपर्युक्त तत्व के भार से दबे हुए इस गरीब शिक्षक की दया आती थी, परन्तु सीखने में इनसे मुझे कुछ भी सहायता नहीं मिलती थी। तो भी इन्हें छोड़ देने का मुझसे निश्चय नहीं होता था। जब तक मैं इस

प्राप्त करना सहज नहीं है। स्त्री प्राप्त करने में क्या-क्या कठिनाई आती है—यह सुनने पर मन चकित हो जाता है। श्रीमती वार्कर का एक कुत्ता था। इसके साथ खेलने में उन्हें बहुत संतोष मिलता था। जब वार्कर महाशय अपनी स्त्री को त्रास देना चाहते थे, तब वे इस कुत्ते को सताया करते। परिणाम यह होता कि इस मूक जानवार पर उस बाई का प्रेम अधिक बढ़ता जाता, साथ में अपने पति से मनमुटाव भी।

इस परिस्थिति में मुझे अधिक दिनों तक नहीं रहना पड़ा और मेरी भौजाई ने मुझे डेव्हन शायर में टार्क स्थान पर रहने के लिए बुला लिया। उस समय मैं आनन्द से फूल गया और तुरन्त वहाँ चला गया। वहाँ की टेकरियाँ समुद्र पुष्पाच्छादित उपवन, पाइन वृक्षों की छाया और अति चञ्चल दोनों खिलाड़ी साथियों की संगति में मैं कितना सुखी था, यह कहना शक्ति के बाहर है। इसप्रकार मेरे नेत्र सौंदर्य से भर गए थे। मन प्रफुल्लित था और मेरे दिन सुख से व्यतीत हो रहे थे। ऐसे समय में भी काव्य स्फूर्ति क्यों नहीं होती, इस चिंता से मैं अपने आपको दुखी बना लेता था। एक दिन कवि का भाग्य आजमाने के लिये मैं कोरी पुस्तक और छतरी हाथ में लेकर पर्वत के एक किनारे की ओर चला गया। मेरी खोजी हुई जगह निःसंदेह अत्यन्त सुन्दर थी। उसका सौंदर्य मेरी कल्पना शक्ति अथवा यमक के ऊपर निर्भर नहीं था। पर्वत का सिरा आगे आया हुआ था और वह जल तक चला गया था आगे की ओर फेन-पूर्ण लहरों में अस्त होते हुए सूर्य की किरणें विलीन हो रही थीं। सूर्यनारायण विश्रांति के लिये एकांत स्थान को जा रहे थे। थके हुए वन देवता के खुले हुए अञ्चल के समान पाइन वृक्षों की छाया पीछे की ओर फैली हुई थी। ऐसे रमणीय

स्थान में एक शिला-तल पर विराजमान होकर मैंने 'मग्नतरी' (डूबी हुई नौका) नामक कवित्त की रचना की। उसी प्रकार उस कविता को यदि समुद्रस्थ कर दी गई होती, तो अच्छा हुआ होता। अब उसे मेरी अन्य कविताओं में स्थान मिल गया है। यद्यपि मेरे प्रकाशित काव्यग्रन्थों में उसे स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी यह कविता इतनी सर्वतोमुखी हो गई है कि उसे कोई भी प्रकाशित कर सकेगा।

इसप्रकार कुछ दिनों तक मेरे दिन वहाँ व्यतीत हुए। वे दिन प्रायः आलस्य ही में व्यतीत हुए। मैं तो निश्चिन्त हो गया। पर कर्तव्य थोड़े ही निश्चिन्त होता है। अतः कर्तव्य का फिर तकाज़ा हुआ और मुझे लंदन जाना पड़ा। इस बार डॉ० स्कॉट के यहाँ रहने का प्रबन्ध किया गया था। अतः एक दिन सामान लेकर मैंने उनके घर पर चढ़ाई की। डॉ० स्कॉट के चेहरे पर बुढ़ापा स्पष्ट प्रगट हो रहा था। डॉ० स्कॉट उनकी स्त्री और उनकी बड़ी लड़की मुझे वहाँ मिलीं। दो लड़कियाँ उनके और थीं। पर वे अपने घर पर विदेशी भारतीय गृहस्थ की चढ़ाई के समाचार से शायद डरकर एक नातेदार के घर पर चली गई थीं। जब मेरे पहुँचने पर उन्हें यह समाचार मिले होंगे कि मैं कोई भयङ्कर मनुष्य नहीं हूँ, तब वे लौट आईं। थोड़े ही दिनों में सब कुटुम्ब का और मेरा इतना स्नेह जम गया कि मैं उनके का ही एक बन गया। श्रीमती स्कॉट मुझे अपने पुत्र के बराबर समझती थीं और उनकी लड़कियों का मेरे साथ इतना प्रेमपूर्ण व्यवहार था, जितना कि निजी नातेदारों तक का नहीं होता।

इस कुटुम्ब में रहते हुए एक बात मेरे ध्यान में यह आई कि मनुष्य स्वभाव कहीं भी जाओ एक ही प्रकार का मिलेगा।

अपने प्रायः कहा करते हैं और मेरा भी ऐसा ही मत था कि भारतीय स्त्रियों की पतिभक्ति अलौकिक हुआ करती है, वैसी यूरोपियन स्त्रियों में नहीं होती। परन्तु इस समय मुझे अपना यह मत बदलना पड़ा। श्रेष्ठ श्रेणी की भारतीय स्त्री की पति-परायणता और श्रीमती स्कॉट की पति-परायणता में मैं कुछ भी अन्तर नहीं जान सका। श्रीमती स्कॉट की पति-परायणता अत्यन्त श्रेष्ठ थी। वे अपने पति से तन्मय हो गई थीं। उनकी सांपत्तिक स्थिति साधारण थी, इसलिए नौकर-चाकर भी मामूली तौर पर रखकर, फिजूल बड़प्पन न बताकर छोटे बड़े सब काम श्रीमती स्कॉट अपने हाथों स्वयं करती थीं और सदा अपने पति के कार्यों में मदद देने को तैयार रहती थीं। शाम के समय पति के वापिस आने के बदले वे स्वयं अपने हाथों से अंगीठी तैयार करके आराम कुर्सी पर खड़ाऊँ रख देतीं और पति के स्वागत के लिये तैयार रहती थीं। वे अपने मन में सदा इस बात का ध्यान रखती थीं कि पति को कौन-सी बात पसन्द है और किसप्रकार का व्यवहार वे चाहते हैं। आठों पहर उन्हें केवल पति-सेवा का ही ध्यान रहता था।

प्रतिदिन सुबह श्रीमती स्कॉट अपनी नौकरानी को लेकर घर के ऊपर की मञ्जिल के नीचे तक आतीं-जातीं और सफाई करवातीं तथा अस्त-व्यस्त पड़े हुए सामान को व्यवस्था से जमवा देतीं। जीने के कठड़े की पीतल की छड़ें दरवाजे की कड़ियाँ वगैरह घिसकर इतनी स्वच्छ करतीं कि वे फिर चमकने लगतीं। प्रतिदिन के निश्चित कामों के सिवा कितने ही सामाजिक कर्तव्य उन्हें करने पड़ते थे। दैनिक कार्य हो जाने पर शाम के वक्त हमारे वाचन एवं गायन में भी वे सम्मिलित हुआ करतीं

स्थान में एक शिला तल पर विराजमान होकर मैंने 'भग्नतरी' (डूबी हुई नौका) नामक कवित्त की रचना की। उसी समय उस कविता को यदि समुद्रस्थ कर दी गई होती, तो अच्छा हुआ होता। अब उसे मेरी अन्य कविताओं में स्थान मिल गया है। यद्यपि मेरे प्रकाशित काव्यग्रन्थों में उसे स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, तो भी वह कविता इतनी सर्वतोमुखी हो गई है कि उसे कोई भी प्रकाशित कर सकेगा।

इसप्रकार कुछ दिनों तक मेरे दिन वहाँ व्यतीत हुए। ये दिन प्रायः आलस्य ही में व्यतीत हुए। मैं तो निश्चिंत हो गया। पर कर्तव्य थोड़े ही निश्चिंत होना है। अतः कर्तव्य का फिर तकाज़ा हुआ और मुझे लंदन जाना पड़ा। इस बार डॉ० स्कॉट के यहाँ रहने का प्रबन्ध किया गया था। अतः एक दिन सामान लेकर मैंने उनके घर पर चढ़ाई की। डॉ० स्कॉट के चेहरे पर वृद्धत्व स्पष्ट प्रगट हो रहा था। डॉ० स्कॉट उनकी स्त्री और उनकी बड़ी लड़की मुझे वहाँ मिली। दो लड़कियाँ उनके और थीं। पर वे अपने घर पर विदेशी भारतीय गृहस्थ की चढ़ाई के समाचारों से शायद डरकर एक नातेदार के घर पर चली गई थीं। जब मेरे पहुँचने पर उन्हें यह समाचार मिले होंगे कि मैं कोई भयङ्कर मनुष्य नहीं हूँ, तब वे लौट आईं। थोड़े ही दिनों में उस कुटुम्ब का और मेरा इतना स्नेह जम गया कि मैं उनमें का ही एक बन गया। श्रीमती स्काट मुझे अपने पुत्र के समान समझती थीं और उनकी लड़कियों का मेरे साथ इतना प्रेमपूर्ण व्यवहार था, जितना कि निजी नातेदारों तक का नहीं होता।

इस कुटुम्ब में रहते हुए एक बात मेरे ध्यान में यह आई कि मनुष्य-स्वभाव कहीं भी जाओ एक ही प्रकार का मिलेगा।

अपने प्रायः कहा करते हैं और मेरा भी ऐसा ही मत था कि भारतीय स्त्रियों की पतिभक्ति अलौकिक हुआ करती है, वैसी यूरोपियन स्त्रियों में नहीं होती। परन्तु इस समय मुझे अपना यह मत बदलना पड़ा। श्रेष्ठ श्रेणी की भारतीय स्त्री की पति-परायणता और श्रीमती स्कॉट की पति-परायणता में मैं कुछ भी अन्तर नहीं जान सका। श्रीमती स्कॉट की पति-परायणता अत्यन्त श्रेष्ठ थी। वे अपने पति से तन्मय हो गई थीं। उनकी सांपत्तिक स्थिति साधारण थी, इसलिए नौकर-चाकर भी मामूली तौर पर रखकर, फिजूल बड़प्पन न बताकर छोटे बड़े सब काम श्रीमती स्कॉट अपने हाथों स्वयं करती थीं और सदा अपने पति के कार्यों में मदद देने को तैयार रहती थीं। शाम के समय पति के वापिस आने के बदले वे स्वयं अपने हाथों से अंगीठी तैयार करके आराम कुर्सी पर खड़ाऊँ रख देतीं और पति के स्वागत के लिये तैयार रहती थीं। वे अपने मन में सदा इस बात का ध्यान रखती थीं कि पति को कौन-सी बात पसन्द है और किसप्रकार का व्यवहार वे चाहते हैं। आठों पहर उन्हें केवल पति-सेवा का ही ध्यान रहता था।

प्रतिदिन सुबह श्रीमती स्कॉट अपनी नौकरानी को लेकर घर के ऊपर को मञ्जिल के नीचे तक आतीं-जातीं और सफाई करवातीं तथा अस्त-व्यस्त पड़े हुए सामान को व्यवस्था से जमवा देतीं। जीने के कठड़े की पीतल की छड़ें दरवाजे की कड़ियाँ वगैरह घिसकर इतनी स्वच्छ करतीं कि वे फिर चमकने लगतीं। प्रतिदिन के निश्चित कामों के सिवा कितने ही सामाजिक कर्तव्य उन्हें करने पड़ते थे। दैनिक काय हो जाने पर शाम के वक्त हमारे वाचन एवं गायन में भी वे सम्मिलित हुआ करती

थीं। क्योंकि अवकाश के समय को आनन्द में व्यतीत करने में सहायक होना सुगृहिणी का एक कर्तव्य ही है।

कितनी ही बार शाम को डॉ० स्कॉट की लड़कियाँ टेबिल फिरा-फिरा कर कोई खेल खेला करती थीं। मैं भी इस खेल में शामिल होता था। चाय की एक छोटी-सी टेबिल पर हम हमारी उँगलियाँ रखते और वह सब दीवानखाने में फिरने लगती। आगे जाकर तो ऐसा हो गया कि जिन वस्तुओं पर हम हाथ रखते वे सब थर-थर काँपने लगतीं। श्रीमती स्कॉट को ये बातें रुचती नहीं थीं, परन्तु इस सम्बन्ध में वे कुछ विशेष नहीं बोला करती थीं। हाँ, कभी-कभी गंभीर चेहरा बनाकर गर्दन हिला देतीं, मानों वे गंभीरतापूर्वक यह कहती थीं कि ये बातें उन्हें पसन्द नहीं हैं। तो भी हमारे उत्साह के भङ्ग न होने के लिहाज से वे चुपचाप हमारे इस खेल को सहन करती थीं। एक दिन डॉ० स्कॉट की चाल के समान टोपी को फिराने के लिये हमजोगों की तैयारी हुई। उस समय यह बात श्रीमती स्कॉट को बिलकुल असह्य हुई। घबड़ाती हुई वे हमारे पास आईं और उस टोपी पर हाथ न लगाने के लिये उन्होंने हमें सावधान कर दिया। सन्तानों का एक पलभर के लिये भी अपने पति के शिरस्त्राण से हाथ लगाना उन्हें सह्य नहीं हुआ।

उनके सब कार्यों में अपने पति के सम्बन्ध में आदर प्रचुरता से दिखलाई पड़ता था। उनके आत्मसंयम का स्मरण होते ही स्त्री-प्रेम की अन्तिम पूर्णता स्वात्य बुद्धि में विलीन हो गई है, ऐसा मुझे विश्वास हो जाता है। स्त्री-प्रेम की बाढ़ को कुण्ठित करने के लिये कोई कारण पैदा न हो तो फिर यह प्रेम नैसर्गिक रीति से उपासना में रूपांतरित हो जाता है। जहाँ ऐश्वर्य की

रेल-पेल और छिछोरपना रात दिन रहता है, वहीं इस प्रेम की अवनति होती है और साथ ही इस प्रेम की पूर्ति से प्राप्त होने-वाले आनन्द का स्त्री-जाति उपयोग नहीं कर पाती।

यहाँ मैं कुछ ही महीने रह पाया। क्योंकि मेरे ज्येष्ठ भ्राता हिंदुस्तान को लौटनेवाले थे। मुझे भी साथ में आने के लिये पिताजी का पत्र आया था। इस आशा से मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मेरे देश का प्रकाश और आकाश मुझे मुग्ध रीत्या बुला रहे हैं, ऐसा भान होने लगा। हमारी तैयारियाँ हो गईं और मैं जाने के पहिले श्रीमती स्कॉट से भेंट करने के लिये गया। उन्होंने अपने हाथ में मेरा हाथ को लेकर रोना शुरू किया। वे अपने को सँभाल न सकीं। कहने लगीं—"अरे तुझे इतना शीघ्र जाना था तो फिर हमारे दिल को प्रेम का धक्का लगाने के लिये फिर आया ही क्यों था? अरे परमात्मा, ऐसे प्रेमी व्यक्तियों का सहवास क्यों नहीं होने देता?"

अब लंडन में यह कुटुम्ब नहीं है। स्कॉटसाहब के घर के कुछ आदमी किसी दूरस्थ देश को चले गए हैं और कुछ इधर-उधर हैं, जिनका मुझे पता नहीं। परन्तु मेरे मन में उनका स्मरण आजन्म जागृत रहेगा।

मेरी इस पहली विलायत यात्रा की कुछ बातें स्पष्ट रीति से मेरी स्मृति में हैं। सर्दी के दिन थे। मैं टर्न ब्रिजवेल्स के एक मार्ग से जा रहा था। मार्ग की एक ओर एक आदमी को मैंने खड़े देखा। फटे-पुराने जूतों में उसके पैर की उँगलियाँ बाहर निकल रही थीं। छाती आधी खुली हुई थी। वह मुझसे कुछ नहीं बोला। सम्भवतः कानूनन भिक्षा माँगना वहाँ बन्द होने से वह मूक रहा होगा। सिर्फ क्षणभर उसने मेरे पैरों की ओर देखा।

मैंने एक सिक्का खीसे में से निकाल कर उसे दिया। आशा से अधिक कीमती भिक्षा मिलने के कारण पहले तो वह चार कदम आगे बढ़ गया, पर तुरन्त ही लौटा और मुझसे कहने लगा—"महाशय! आपने भूल से मुझे सोने का सिक्का दे दिया है।" यह बात मेरे ध्यान में नहीं रही होती, परन्तु दूसरे एक प्रसङ्ग पर ऐसी ही एक घटना और होने के कारण दोनों बातें मेरे ध्यान में अच्छी तरह रह गई। टार्क स्टेशन पर जब मैं पहले-पहल उतरा तब एक मजदूर आया और मेरा सामान स्टेशन के फाटक के बाहर खड़ी हुई एक गाड़ी में लाकर रख दिया। पैसे की थैली में मैं छुट्टे पैसे देखने लगा, पर न होने से मैंने उसे आधा क्राउन दे डाला। गाड़ी चलने लगी। कुछ समय बाद वह मजदूर दौड़ता हुआ गाड़ी रोकने के लिये आवाज देने लगा। मैं समझा कि मुझे भोला भंडारी समझकर कुछ और ऐंठने की नियत से वह आ रहा है। परन्तु उसने आकर कहा, कि "महाशय! आपने भूल से एक पेनी की जगह आधा क्राउन दे डाला।"

यह नहीं कह सकता कि मैं विलायत में रहकर ठगाई में नहीं आया। आया तो होऊँगा, परन्तु वे घटना ध्यान में रखने योग्य नहीं हैं। अनुभव से मेरा यही मत निश्चित हो गया है कि विश्वासपात्र लोगों को दूसरे पर विश्वास करने का तरीका अच्छी तरह मालूम रहता है। मैं एक अपरिचित मनुष्य था और सहज एवं निर्भय होने से मैं व्यापारियों को चाहता तो उनके पैसे नहीं दे सकता था। परन्तु लण्डन के किसी भी दूकानदार ने मेरा कभी अविश्वास नहीं किया।

मेरे विलायत के निवास में कुछ हास्यजनक घटनाएँ भी हुईं। उनमें से एक मुख्य तथा मेरी स्मृति में है। वह यह कि

एक बार किसी स्वर्गीय बड़े ऐंग्लो इंडियन अफ़सर की स्त्री से मेरा परिचय हो गया। वह मुझे 'रवि' कहकर बुलाती थी। उसके एक भारतीय कवि मित्र ने उसके मृत पति के स्मरणार्थ अंग्रेज़ी में एक करुणा रस पूर्ण कविता लिखी थी। इस कविता के गुण दोष अथवा भाषापद्धति का विवेचन करने का यह स्थान नहीं है। मेरे दुर्दैव से कवि ने कविता पर यह लिख रखा था कि यह विहाग राग में गई जाय। एक दिन वह कविता विहाग राग में गाने के लिए उसने विशेष अग्रहपूर्वक विनती की। मैं ठहरा भोला-भाला। अतः उसका कहना मान्य किया। इस कविता पर जबरदस्ती विहाग राग लादा गया था। यह हास्यास्पद और निंद्य बात पहिचानने योग्य वहाँ कोई नहीं था। यह भी मेरा दुर्दैव ही समझना चाहिए। अपने पति की मृत्यु का हिन्दुस्तानी मनुष्य द्वारा रचा हुआ। शोक-गीत हिन्दुस्तानी राग में सुनकर उस बाई का मन शोक से भर गया। मैं समझा कि चलो छुट्टी हुई, इसकी इच्छा पूर्ण हो गई। पर राम राम, वह यहाँ ही रुकनेवाली बात नहीं थी। इस बाई की बार-बार भिन्न-भिन्न समाजों में मुझसे भेंट हुआ करती और भोजन के बाद ज्योंही मैं दीवानखाने में स्त्रियों के समुदाय में जाता, त्योंही वह बाई मुझे विहागराग गाने के लिए कहती, और दूसरी भी भारतीय गायन का उत्कृष्ट मसाला सुनने की इच्छा से आग्रह किया करतीं। साथ ही उस शोक गीत का छपा हुआ कागज बाई के खीसे में-से बाहर निकलता और हमें अन्त में नीची गर्दन कर कम्पित स्वर से गाना प्रारम्भ करना पड़ता। हमें पूर्ण विश्वास है कि ऐसे स्थानों पर मेरे सिवा उस गाने से किसी दूसरे का हृदय विदीर्ण होने की संभावना नहीं थी। अन्त में सब स्त्रियाँ मन-ही-मन हँसकर 'वाह-

त्राहवा' कहा करतीं। कड़ाके की ठंड होने पर भी हमें इस घटना से पसीना छूटा करता था। उस बड़े अफसर का मृत्यु-गीत, मेरे ऊपर ऐसा भयंकर आघात करेगा, ऐसा भविष्य मेरे जन्म समय में या उस अफसर के मृत्यु समय में क्या कोई कर सकता था।

डॉ० स्काट के यहाँ रहकर यूनिवर्सिटी कालेज में अभ्यास करने के कारण इस बाई से कुछ दिनों तक मेरा मिलाप ही नहीं हुआ। बीच-बीच में उसके पत्र हमें बुलाने लिए आया करते थे। यह बाई लंदन के एक उपनगर में रहा करती थी, परन्तु मृत्यु-गीत के भय के कारण मैं उनके निमंत्रण को स्वीकार नहीं करता था। अन्त में एक दिन तार से निमंत्रण आया। मैं कालेज जा रहा था। रास्ते में ही यह तार मिला। विलायत से भी अब मैं शीघ्र जाने ही वाला था, अतः इस बाई से मिलना उचित समझ उसका आग्रहपूर्ण निमंत्रण मैंने स्वीकार करने का निश्चय किया।

मैं कालेज गया। वहाँ का काम खत्म कर घर न लौटकर उस बाई के यहाँ आने लिये सीधे स्टेशन पर चला गया। वह दिन बड़ा ही भयंकर था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। चारों ओर कुहरा छाया हुआ था। हमें जिस स्टेशन पर जाना था, वह आखरी स्टेशन था। इसलिए मैंने वहाँ पहुँचने के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने की भी जरूरत नहीं समझी।

रास्ते में सब स्टेशनों के प्लेटफार्म दाहिनी बाजू की ओर पड़ते थे। अतः मैं भी ट्रेन के डिब्बे में दाहिनी ओर बाजे में बैठकर पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हो गया। बाहर कुहरे के कारण इतना अन्धेरा हो गया था कि कुछ भी दिखलाई नहीं

पड़ता था। एक के बाद एक मुसाफिर अपने-अपने स्थान पर उतरने लगे। आखिरी स्टेशन से एक स्टेशन पहले जब हम पहुँचे, तब वहाँ थोड़ी देर गाड़ी ठहरी और फिर चलने लगी। कुछ ही दूर जाकर गाड़ी फिर ठहर गई, परंतु आस-पास कोई भी दिखलाई नहीं पड़ा—न दीपक न प्लेटफार्म। कभी-कभी बेमौके गाड़ी ठहर जाने के कारण पूछने का भी मुसाफिरों को साधन नहीं रहता। इसलिये प्रयत्न भी नहीं करते। अतः मैं फिर अपने पढ़ने में लीन हो गया। देखता हूँ तो गाड़ी पीछे जा रही है। रेलवेवालों के आश्चर्यजनक व्यवहार के प्रति कोई भी जवाबदार नहीं होता, यह समझकर मैं फिर पढ़ने लगा। अब हम एक स्टेशन पीछे लौट आए। अब हमें अपनी उदासीनता छोड़नी पड़ी और पूछना पड़ा कि अमुक स्टेशन को हमारी गाड़ी कब जावेगी। उत्तर मिला कि यह वहाँ से लौटकर आ रही है। फिर पूछा कि अब यह गाड़ी कहाँ जा रही है। उत्तर मिला 'लंडन को'। अच्छा अब अमुक स्टेशन की गाड़ी फिर कब मिलेगी? उत्तर मिला रातभर गाड़ी नहीं मिलेगी। पूछ-ताछ से यह पता चला कि पाँच मील के फेरे में कोई ठहरने व खाने-पीने की जगह नहीं है। मैं सुबह १० बजे खा-पीकर घर से चला था। उसके बाद पानी तक मुँह में नहीं डाला था। जब भोग-परिभोग के साधन का कोई दूसरा मार्ग नहीं रहता, तब संन्यासवृत्ति धारण करने में मनुष्य को देर नहीं लगती। ओवर कोट के बटन लगाकर प्लेटफार्म के एक लालटेन के नीचे मैं बैठ गया। मेरे पास सद्यः प्रकाशित 'स्पेंसर के नीति सिद्धान्त' नामक एक पुस्तक थी। ऐसे विषय पर चित्त को एकाग्र करने का अवसर इससे बढ़कर दूसरा नहीं मिलेगा, यह सोचकर मैंने पढ़ना आरंभ किया।

कुछ समय बाद एक मजदूर मेरे पास में आया और उसने कहा कि कुछ समय बाद एक विशेष ट्रेन यहाँ से जानेवाली है। वह आधे घंटे बाद आवेगी। यह सुनकर हमें इतना दर्द हुआ कि मैं पुस्तक आगे पढ़ ही नहीं सका। जहाँ मैं सात बजे पहुँचने वाला था, वहाँ ९ बजे पहुँचा। बाई ने पूछा 'रवि', तुझे इतनी देर क्यों हुई? कहाँ ठहर गया। हमें अपने साहस के सम्बन्ध में यद्यपि विशेष कुछ अभिमान नहीं था, तोभी मैंने खुले मन से सब बातें साफ साफ कह दीं। मेरे पहुँचने के पहले ही उन लोगों का खाना-पीना हो चुका था।

कुछ देर बाद मुझे चाय पीने के लिये कहा गया। मैं चाय कभी नहीं पीता था। परन्तु भूख से, इस समय व्याकुल हो रहा था, अतः दो बिस्किट और तेज चाय का एक प्याला किसी तरह गले के नीचे उतारा। फिर वे हमें दीवानखाने में ले गए। वहाँ अनेक प्रौढ़ स्त्रियाँ एकत्रित थीं। एक अमेरिकन तरुण लड़की भी थी। मेरा परिचित बाई के भानजे से इसका विवाह ठहरा था। अतः विवाह के पहिले के प्रेम (Courtship) में वह मग्न-सी दिख रही थी। बाई ने कहा आओ नाचें। यह कसरत करने योग्य मनःस्थिति मेरी इस समय नहीं थी और न शरीर की स्थिति ही नृत्य के अनुकूल थी। परन्तु कहा जाता है कि दुर्लभ-स्वभाव व्यक्तियों के हाथ से ही [illegible] पड़ती हैं।

किया था। मैं सुन्न रह गया। एक भी शब्द न बोलकर बाई की ओर देखने लगा। तब यह कहने लगी कि यहाँ पास ही में एक पथिकाश्रम है। वह बारह बजे तक खुला रहता है। इसलिये अब देरी न करके तू वहाँ चला जा। वहाँ तेरे ठहरने का प्रबंध हो जायगा।

हमें झख मारकर जाने के लिए तैयार होना पड़ा, अन्यथा रात भर कहाँ निकालता। बाई ने इतनी दया की कि एक नौकर लालटेन देकर आश्रम बतलाने के लिए मेरे साथ में कर दिया। पहले-पहल तो हमें यही मालूम हुआ कि आश्रम में भेजकर मेरे पर कृपा ही की गई। पहुँचते ही मैंने खाने-पीने के सम्बन्ध में पूछा। होटल के मैनेजर ने उत्तर दिया कि खाने को कोई चीज तैयार नहीं है। हाँ 'पेय प्रदार्थ' मौजूद है। सोने के लिए जगह बतला दी गई। इस जगह की पथरीली फर्श ठंडदार थी। वहाँ मुंह धोने को एक टूटी-फूटी तश्तरी और पुराना पलंग पड़ा हुआ था।

सुबह होते ही बाई ने हमें फलहार के लिए बुलाया। इस फलहार की बात कुछ न पूछिए। सारी चीजें बासी थीं। गई रात का बचा हुआ समान था। अगर इन्हीं में-से कल रात को हमें कुछ समान दिया होता, तो किसी की कुछ हानि नहीं हुई होती और न पानी में-से बाहर निकली हुई मछली की तड़फड़ाहट के समान मेरा नाच हुआ होता।

फलाहार हो जाने पर मुझसे कहा कि जिस बाई को गाना सुनाने के लिए तुझे बुलाया है व बीमार हो गई हैं। इसलिये उसके कमरे के द्वार पर बैठकर तू उसे गाना सुना। जीने के नीचे हमें खड़ा रखकर एक बंद दरवाजे की ओर इशारा करके

कहा गया कि उस कमरे में बाई पड़ी हुई हैं। मैंने उस आलेय की ओर अपना मुंह करके यही विहाग राग गया। मेरे इस गायन का रोगी पर क्या परिणाम हुआ, इसके समाचार हमें अभी तक नहीं मिले।

मुझे अपने इस दुर्बलतापूर्ण सौजन्य के प्रायश्चित्त में लंदन आकर बीमार पड़ना पड़ा। मैंने डा० स्कॉट की लड़कियों से इस मेहमानदारी का सब हाल कहा। तब उन्होंने कहा कि पूर्ण विचार के बाद तुम्हें यह मालूम होगा कि अंग्रेजी आतिथ्य का यह नमूना नहीं है, किन्तु हिन्दुस्तान के भ्रम का यह परिणाम है।

२५

लोकन पालित

यूनिवर्सिटी कालेज के अंग्रेजी साहित्य सम्बन्धी व्याख्यानों में मैं जाया करता था। उस समय "लोकन पालित" मेरा सहपाठी था। वह मुझसे चार वर्ष छोटा भी था। आज जिस अवस्था में मैं यह 'आत्म-कथा' लिख रहा हूँ उसमें चार वर्ष का अन्तर कुछ अधिक नहीं है। परन्तु १७ और १३ का अन्तर उस अवस्था में मैत्री के लिये बहुत अधिक माना जाता था। उस अवस्था में गंभीर वृत्ति का प्रायः अभाव रहता है। अतः लड़के

अपने बड़प्पन का बहुत अधिक खयाल रखते हैं। परन्तु हम दोनों में यह बात नहीं थी। बड़प्पन के कारण हमारे आपस में कभी दुजागरी नहीं हुई। पालित मुझे अपने से किसी भी बात में कनिष्ठ मालूम नहीं होता था।

कालेज के पुस्तकालय में विद्यार्थी और विद्यार्थिनी पढ़ने के लिये एक साथ बैठा करते थे। मन-ही-मन बोलने की यह जगह थी। हम अगर मन-ही-मन धीरे-धीरे बातें करते तो किसी को कुछ बोलने को जगह नहीं रहती। परन्तु मेरा मित्र पालित उत्साह से इतना भर जाता कि थोड़ी ही छेड़छाड़ से उसकी हँसी और उत्साह बाहर निकल पड़ता था। सम्पूर्ण देशों में अभ्यास की ओर लड़कियों का लक्ष्य एक भिन्न प्रकार का ही होता है। अभ्यास करने में वे जरा हठीली हुआ करती हैं। हममें इस तरह स्वच्छन्द रीति से हास्यविनोद होता तब उन लड़कियों की नापसंदगी दिखलानेवाली तिरस्कारपूर्ण आँखें हमपर पड़तीं। आज उस बात का ध्यान आने पर मुझे पश्चात्ताप होता है, परन्तु उस समय किसी के अभ्यास में विघ्न पड़ने पर मुझे बिलकुल ही सहानुभूति नहीं होती थी। मेरे अभ्यास में विघ्न पड़ने पर परमेश्वर की कृपा से मुझे कभी कष्ट नहीं हुआ और न मन को कभी कोई चिंता ही हुई।

हमारे हास्य रस का प्रवाह सतत बहता रहता था। कभी-कभी वर्गों में वाङ्मय विषयक वाद-विवाद भी हम करते थे। मेरा अपेक्षा लेकिन पालित का बंगला साहित्य का व्यासंग कम था, तब भी वह उस कमी को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से पूरी कर देता था। हमारे विवादस्थ विषयों में बंगला शुद्ध लेखन भी एक विषय था। यह विवाद प्रारम्भ होने का कारण यह हुआ कि डॉ० स्कॉट की एक लड़के ने बंगला सिखाने के लिये मुझसे

कहा। बंगला वर्णमाला सिखाते हुए बड़े अभिमान के साथ मैंने उससे कहा कि बङ्गाली भाषा पद-पद पर अपने निश्चित नियमों का टूटना कभी सहन नहीं करती। यदि परीक्षा के लिये घोक-घोक कर हम लोगों को कंठस्थ न करना पड़ता तो अंग्रेजी वर्ण रचना की स्वच्छन्दता किस हास्योत्पादक स्थिति को पहुँचती, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु मेरा यह गर्व ठहर नहीं सका। क्योंकि मुझे अंग्रेजी के समान बंगाली वर्ण रचना भी स्वतत्र होने के लिये अधीर दिखलाई पड़ी। बंगाली वर्ण-रचना की नियत—भंगता अभ्यासवश मेरे ध्यान में अब तक नहीं आती थी।

अब मैं बंगाली वर्णरचना की अनियमितता में से नियम बद्धता ढूंढने का प्रयत्न करने लगा। इस कार्य में लोकन पालित की जो कल्पनातीत सहायता मुझे मिली उसका मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

विलायत में रहते हुए युनिवर्सिटी कालेज के पुस्तकालय में होनेवाले हास्य विनोद की खलखलाहट में जिस फाग का उद्गम हुआ उसी का भारत के मुल्की खाते कर्मचारी होकर लोकन पालित के आने पर विस्तीर्ण प्रवाह बहने लगा। 'लोकन' का उत्साह से भरा हुआ साहित्यिक आनन्द साहित्य सम्बन्धी मेरे साहस रूपी वायुयान को चला देनेवाला वायु ही था। ऐन तारुण्य में मैंने अपने गद्य और पद्य की गाड़ी पूरे वेग से दौड़ा दी और लोकन की अयाचितक स्तुति ने मेरे इस उत्साह को कायम भी रखा। क्षण भर के लिये भी वह मन्द नहीं पड़ा। जहाँ 'लोकन' होता वहाँ जाकर और उस बंगले में रहकर गद्य पद्य की अनेक कल्पनातीत उड़ानें मैंने मारी हैं। कई बार हुए

नक्षत्र की चाँदनी डूबने तक हम लोग साहित्य और संगीत शास्त्र का ऊहापोह करते रहते थे।

सरस्वती के चरण तल में रहे हुए कमल पुष्पों में मैत्री का पुष्प संभवतः उसे अधिक पसन्द होना चाहिए। कमल पुष्पों से भरे हुए सरस्वती के तट पर मुझे सुवर्ण पराग की प्राप्ति अधिक नहीं हुई। परन्तु प्रेम-पूर्ण मैत्री के मधुर सुवास की विपुलता के सम्बन्ध में मुझे कभी कोई शिकायत भी नहीं रही।

२६

भग्न हृदय

विलायत में ही मैंने एक दूसरे काव्य की रचना प्रारम्भ कर दी थी। विलायत से लौटते हुए रास्ते में भी उसकी रचना का कार्य चालू रहा। हिन्दुस्तान में आने पर इस काव्य-रचना की समाप्ति हुई। प्रकाशित होते समय मैंने इस काव्य का नाम 'भग्न हृदय' रखा। लिखते समय मुझे मालूम हुआ कि यह रचना अच्छी हुई है और लेखक को अपनी कृति यदि उत्तम प्रतीत हो, तो इसमें आश्चर्य भी कुछ नहीं है। यह काव्य मुझे ही सुन्दर प्रतीत नहीं हुआ, किंतु पाठकों ने भी इसकी प्रशंसा की। इसके प्रकाशित होने पर टिपरा के स्वर्गीय नरेश के दीवान साहब स्वतः मेरे पास आए और उन्होंने मुझसे कहा कि आपके इस ग्रन्थ-

के सम्बन्ध में राजा साहब (टिपरा) ने यह सन्देश भेजा है कि उन्हें आपका यह काव्य बहुत पसन्द आया है। उन्होंने कहा है कि इसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है और भविष्य में लेखक बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करेगा, ऐसा उन्हें विश्वास है। यह बात आज भी ज्यों-की त्यों मुझे स्मरण है।

यह काव्य मैंने अपनी आयु के १८ वें वर्ष में लिखा था। आगे जाकर अपनी आयु के ३०वें वर्ष में इसी काव्य के सम्बन्ध में मैंने एक पत्र में जो कुछ लिखा उसे यहाँ उद्धृत करना मुझे उचित भी प्रतीत होता है—

'जब मैंने 'भग्न हृदय' नामक काव्य लिखना प्रारम्भ किया, उस समय मेरी उम्र १८ वर्ष की थी। यह अवस्था न तो बाल्यावस्था ही मानी जाती है और न तरुण ही। यह इन दोनों अवस्थाओं का संधि-काल है। यह वय सत्य की प्रत्यक्ष किरणों से प्रकाशित नहीं रहती। इस अवस्था में सत्य का अस्तित्व प्रत्यक्ष न दिखलाई पड़कर कहीं किसी जगह उसका प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है और शेष स्थान पर केवल धुंधली छायामात्र दिखती हैं। संधि-काल की छाया के समान इस अवस्था में कल्पनाएँ दूर तक फैली हुई, अस्पष्ट और वास्तविक जगत को काल्पनिक जगत के समान दिखलानेवाली रहती हैं।

विशेष आश्चर्य की बात यह है कि उस समय मैं ही केवल १८ वर्ष का नहीं था, किन्तु मुझे अपने आस-पास के प्रत्येक व्यक्ति १८ वर्ष के प्रतीत होते थे, हम सब एक ही आधार शून्य, स्वत्व-रहित एवं काल्पनिक जगत में इधर-उधर भटक रहे थे। जहाँ कि अत्यधिक आनन्द और दुःख दोनों ही स्वप्न के आनंद और दुःख की अपेक्षा भिन्न नहीं मालूम होते। दोनों की तुलना

करने का प्रयत्न कोई साधन नहीं था। इससे बड़ी बात की आवश्यकता छोटी बात से पूरी की जाती थी।

मेरी पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर बाईस-तेईस वर्ष अवस्था तक का काल केवल अव्यवस्थित रीति से ही व्यतीत हुआ। पृथ्वी के बाल्यकाल में जल और भूमि एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न नहीं हुए थे। उस समय बालुकामय दल-दलवाले अरण्यों में फोचर विहीन वृक्षों में-से बड़े-बड़े आकार के जलचर और थलचर प्राणी इधर-उधर संचार करते रहते थे। इसी तरह आत्मा की अस्पष्ट बाल्यावस्था के प्रमाणशून्य विलक्षण आकार-प्रकार के अप्रगल्भ मनोविकार, उक्त प्राणियों के समान आत्मा की मार्गरहित अटवी में फैली हुई छाया में भटकते रहते हैं। इन मनोविकारों को न तो अपने आपका ज्ञान रहता है और न अपने भटकने के कारणों का ही। वे केवल अज्ञान अथवा मूढ़ता से भटकते रहते हैं। अपने निजी कार्यों का परिचय न होने से अपने को छोड़कर दूसरी बातों का अनुकरण करने की उनकी (मनोविकारों की) सहज ही प्रवृत्ति होती है। इस अर्थ-शून्य ध्येयरहित और क्रियाशील अवस्था में अपने ध्येय से अपरचित होने के कारण उसे सिद्ध करने में असमर्थ बनी हुई मेरी अविकसित शक्तियां बाहर निकलने के लिए एक दूसरे से स्पर्धा करती थीं। इस अवस्था में प्रत्येक शक्ति ने अतिशयोक्ति के बल पर अपना प्रभुत्व मुझपर जमाने का जोर-शोर से प्रयत्न किया।

दूध के दाँत निकलते समय बालक को ज्वर आया करता है। दाँतों के बाहर निकलकर अन्न पचाने के काम में सहायता देनेवाली पीड़ा का कोई समर्थन नहीं किया जा सकता। इसी

प्रकार अप्रगल्भ अवस्था के मनोविकार, बाह्य जगत से अपने वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान होने तक मन को कष्ट दिया करते हैं। उस अवस्था में मैंने स्वानुभव से जो बातें सीखीं, वे यद्यपि नैतिक पुस्तकों में भी मिल सकती हैं। परन्तु इससे उनका मूल्य कम नहीं हो सकता। अपनी वासनाओं को अन्दर ही अन्दर बंद रखकर बाह्य जगत में उन्हें स्वच्छन्दता संचार न करने देनेवाली बातें हमारे जीवन में विष फैलाती हैं। इनमें से स्वार्थ बुद्धि भी एक है। यह हमारी इच्छाओं को मन के मुताबिक सञ्चार नहीं करने देती। न उन्हें अपने वास्तविक ध्येय पर नज़दीक जाने देती है। इसीलिये स्वार्थ रूपी भिलावाँ फूट निकलता है और उससे असत्य, अप्रमाणिकता और सब प्रकार के अत्याचार रूपी घाव हो जाते हैं। इसके विपरीत जब हमारी वासनाओं को सत्कार्य करने की अमर्यादित स्वतंत्रता प्राप्त होती है, तब ये विकृति को दूरकर अपनी मूल स्थिति प्राप्त कर लेती हैं और यही उनका जीवन ध्येय अथवा अस्तित्व की वास्तविक आनन्ददायक स्थिति है।

मेरे अपरिपक्व मन की ऊपर कही हुई स्थिति का उस समय के उदाहरणों एवं नीति तत्वों ने पोषण किया था और आज भी उन का परिणाम मौजूद है। मैं जिस समय के सम्बन्ध में लिख रहा हूं, उसपर दृष्टि फेंकने से मुझे यह बात ठीक प्रतीत होती है कि अंग्रेजी साहित्य ने हमारी प्रतिभा का पोषण न कर उसे उत्तेजित किया है। उन दिनों शेक्सपियर, मिल्टन और बायरन ये हमारे साहित्य की अधिष्ठात्री देवता बन रही थी। हमारे मन को हिला देनेवाला यदि इनमें कोई गुण था तो यह मनोविकारों का आधिक्य ही था। अंग्रेजों के सामाजिक व्यवहार में मनोविकारों की लगाम खींचकर रखते हैं। मनो-

विकार चाहे कितने भी प्रबल हों, पर उनका बाह्य आविष्करण न होने देने की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। शायद इसीलिये अंग्रेजी वाङ्मय पर मनोविकारों का इतना अधिक प्रभाव है कि अंग्रेजी साहित्य का यह एक गुण हो बन गया है कि—उसमें-से अनन्त जाज्वल्यमान मनोवृत्तियाँ अनिवार्य होकर भड़कती और उनमें-से भयंकर ज्वालाएं निकलने लगती हैं। मनोवृत्तियों का यह भयङ्कर क्षोभ ही अंग्रेजी साहित्य की आत्मा है। कम-से-कम हमारी तो यही धारणा थी और इसी दृष्टि से हम इस साहित्य को ओर देखना सीखे थे।

अक्षय चौधरी ने ही हमारे लिये अंग्रेजी साहित्य का द्वार खोला था। उनके अंग्रेजी के उत्साहपूर्ण और रसीले वर्णन में एक प्रकार का जादू था। उसमें बेहोश करने की शक्ति थी। रोमियो और जुलियट का प्रेमावेश, लियर राजा का शोक, अथेलो की सम्पूर्ण जगत को लील जानेवाली असूयाग्नि आदि बातें हमें अंग्रेजी वांगमय की मनमानी प्रशंसा करने के लिये उद्यत करती थीं। हमारा सामाजिक जीवनक्रम और उसका संकुचित कार्य-क्षेत्र स्थायी रहनेवाली नीरसता के परकोटे में इस तरह घिरा रहता है कि उसमें जाज्वल्यमान मनोविकारों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। जहाँ तहाँ शांतता का कल्पनातीत साम्राज्य फैला हुआ रहता है। इसीलिये हमारा हृदय अंग्रेजी साहित्य की विकारपूर्ण भावनाओं की जाज्वल्यता प्राप्त करने के लिये तड़फड़ा रहा था। अंग्रेजी साहित्य की यह मोहिनी हमपर वाङ्मय—कला के सौंदर्य का मनचाहा सेवन करने के कारण नहीं पड़ी थी, किंतु हमारे उदासीन मन को कुछ-न-कुछ खाद्य चाहिए, इसलिये हम उस मोहिनी में भूले हुए थे। जिन दिनों मनुष्य को डाँट डपटकर दबाए रखने के विरुद्ध

जोर प्रत्याघात करनेवाली विद्या और कला को पुनरुज्जीवित करने का आन्दोलन यूरोप में शुरू हुआ, उन दिनों के युवजन का द्योतक शेक्सपियर के काल का अंग्रेजी साहित्य है। उन दिनों अपने जीवन को आंतरिक पवित्रता की प्राप्ति में प्रतिबंधक होनेवाले शास्त्रों को फाड़ फेंकने की चिंता में मनुष्य-प्राणी अपनी प्रखर वासनाओं की अन्तिम प्रतिमा ढूँढ़ने के विचारों में तल्लीन हो गया था। अतः अच्छा बुरा और सुन्दर कुरूप को पहिचानने का उसका हेतु नष्ट हो गया था। यही कारण है जो उस समय के अंग्रेजी साहित्य में उपरोधिक और उच्छृंखल उद्गारों की रेलपेल दिखलाई पड़ती है।

यूरोप की इसप्रकार की विकारपूर्ण धूमधाम ने हमारे रूढ़िग्रस्त सामाजिक व्यवहारों में प्रवेश कर हमें जागृत किया और नवजीवन दिया। इस कारण प्रचलित रीति-रिवाज के नीचे दबे हुए, परन्तु अपने स्वरूप को प्रकट करने की संधि ढूंढ़ने के लिये इच्छुक हमारे अन्तःकरण पर स्वच्छन्द जीवन-क्रम का प्रकाश पड़ा और उससे हमारे नेत्र चौंधिया गए।

अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में इसी प्रकार का और एक दिन आया था। उस समय पोप कवि की गम्भीर और व्यवस्थित रचना पद्धति पिछड़ गई और उसके स्थान पर फ्रेंच राज्य-क्रांतिकारकों के नृत्य के समान उच्छृंखल और मदोन्मत्त रचना शुरू हुई। ऐसी रचना का मूल प्रवर्तक बायरन था। इसके काव्यों की उत्तान-विकारपरता से घूँघट डालकर बैठी हुई हमारे मन रूपी वधू का अन्तःकरण भी स्पन्दित हो उठा था।

इस प्रकार हाथ धोकर अंग्रेजी साहित्य के पीछे पड़ने से जो खलबली मची उसने उन दिनों के तरुणों के अन्तःकरण

पर अपना प्रभाव जमा लिया। मेरे पर तो उसका प्रहार चारों ओर से हो रहा था। मनुष्य मूढ़ावस्था से जब जागृत अवस्था में पहले-पहल आता है, तब उत्साह का पूर इसी प्रकार आया करता है। यही साधारण स्थिति है। उत्साह रूपी जल का सुख जाना साहजिक अवस्था नहीं कही जा सकती।

इतने पर भी हमारी स्थिति यूरोप की स्थिति से बिलकुल ही भिन्न थी। वहाँ दासत्व के ज्ञान से उत्पन्न हुए क्षोभ और उससे मुक्त होने की अधीरता को इतिहास में स्थान मिल चुका था। उसपर से वहाँ के साहित्य में भी यह बातें प्रति-बिंबित हुई थीं और साहित्य की इस आवाज़ की मनोभावना से सम्बन्ध हो चुका था। तूफ़ान आया था इसीलिये उसकी गड़गड़ाहट सुनाई दे रही थी। इस तूफ़ान के एक हलके से धक्के ने हमारा जगत भी क्षुब्ध कर डाला था। इस धक्के में भी वही ध्वनि थी, परन्तु इतनी बारीक थी कि उससे हमारा सन्तोष नहीं होता था। अतः हम झंझावात के महान झोकों का अनुकरण करने लगे। हमारे इन प्रयत्नों का पर्यवसान सहजगी या अतिशयोक्ति में हो गया। हमारे मन की यह रुख आज भी हमें खींचे बैठी है और इससे मुक्त होना कोई सरल बात नहीं है।

पूर्णत्व को पहुँची हुई कला में जो मुग्धता दिखलाई पड़ती है वह अंग्रेजी साहित्य में अभी तक नहीं आई। अंग्रेजी साहित्य की यह कमी हमारे वक्त विधान की साक्षी में पेश की जा सकती है। साहित्य की साधन-सामग्री नाना प्रकार की हुआ करती है। उनमें मानवीय भावना भी एक साधन ही है। वह अन्तिम साध्य नहीं। परन्तु अंग्रेजी साहित्य को अभी तक यह सिद्धान्त पूर्णतया मान्य नहीं है।

बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक हमारा मन अंग्रेजी साहित्य के रङ्ग-ढङ्ग के साथ बढ़ता रहता है। अंग्रेजी साहित्य का हवा, खाद और उसी का पानी जिन यूरोपीय भाषाओं की ओर देखने पर हम कह सकते हैं कि वे अधिक उन्नत हैं, उन्हीं लेटिन, ग्रीक आदि प्राचीन और फ्रेंच आदि अर्वाचीन भाषाओं का हम सम्मान नहीं करते। इसपर से मेरा तो यह मत है कि साहित्य के वास्तविक ध्येय और उसकी योग्य कार्य पद्धति के सम्बन्ध में आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की अभी योग्यता भी हम में नहीं आ पाई है।

हमारे मन में अंग्रेजी साहित्य की अभिरुचि और उसके पठन-पाठन की लालसा उत्पन्न करनेवाले अक्षयाबू स्वतः विकारपूर्ण जीवन के भक्त थे मनो-भावना उत्पन्न होने की अपेक्षा उस भावना को सत्यता का प्रत्यक्ष अनुभव होना वे महत्वपूर्ण नहीं समझते थे। यही कारण था, जो धर्म के सम्बन्ध में तो उनमें बौद्धिक आदर नहीं था। परन्तु 'श्याम' (काली माता) के पद सुनने से उनकी आंखों में आंसू भर आते थे। फिर चाहे काली माता का सत्य स्वरूप किसी भी प्रकार का क्यों न हो। बात यह थी कि जो-जो बातें उनके मन को विह्वल कर सकती थीं वे बातें उन्हें उतने समय के लिए सत्य प्रतीत हुआ करती थीं : प्रत्यक्ष दिखलाई पड़नेवाली भूलों का भी उनपर कोई प्रभाव नहीं होता था।

उस समय के अंग्रेजी गद्य साहित्य का 'नास्तिकता' एक प्रधान लक्षण था। बेंथम, मिल, कोम्ट, यह उस समय के प्रसिद्ध और आदरणीय ग्रन्थकार थे। हमारे युवकों की सब दारमदार इन्हीं की विचार प्रणाली पर निर्भर थी, प्रायः इन्हीं की युक्तियों

लेकर हमारे युवक गण वाद विवाद किया करते थे। तत्ववेत्ता 'मिल' का युग अंग्रेजी साहित्य का एक स्वतंत्र 'काल विभाग' है वह राजकाज पद्धति की प्रतिक्रिया का फल था। वर्षों से संचित हीन विचारों को निकालकर फेंकने के ही लिए मिल, बेंथम, कोम्ट, आदि साहित्यक वीरों का जन्म हुआ। उनके ग्रन्थों में विध्वंसन शक्ति का काफी संचार था। हमने अपने देश में इस विध्वसन शक्ति का पुस्तकीय ज्ञान के समान तो उपयोग कर लिया, परन्तु व्यवहार में हमने उसके उपयो का बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया। अपने नीति-तत्वों के भारी जुएं को नीचे डाल देने का आवेश उत्पन्न करने के ही लिए हम उत्तेजक औषधियों के समान उसका उपयोग कर लिया करते थे। इसलिए उन्माद उत्पन्न करने के काम में इन नास्तिक भावनाओं का उपयोग हुआ।

इन कारणों से उस समय के सुशिक्षित लोगों के प्रायः दो भाग हो गए थे। एक दल तो ऐसा था जो ईश्वरीय श्रद्धा को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना चाहता था और सदा वाद-विवाद के शस्त्रास्त्र के लिए बैठा रहता था। इसकी स्थिति पारिधियों (शिकारियों) के समान थी। जिस प्रकार वृक्ष के ऊपर अथवा नीचे शिकार देखते ही शिकारी के हाथों में खुजली चलने लगती है, उसी प्रकार ईश्वर पर विश्वास रखनेवाले मनुष्य को देखते ही वे अपनी अस्तीनें ऊपर चढ़ाने लगते थे। वे इस प्रकार के झूठ विश्वास को नष्ट कर देना अपना कर्तव्य कर्म माना करते थे और इसलिए ऐसे अवसरों पर हमारे इन वीरों में अधिक स्फूर्ति आ जाया करती थी। वे वाद-विवाद के लिए मौका ही ढूंढ़ा करते थे। कुछ दिनों तक हमारे यहाँ भी घर पर पढ़ाने के लिए ऐसे ही एक शिक्षक आया करते थे। उन्हें

भी वादा-विवाद अत्यन्त प्रिय था। उन दिनों मैं बालक ही था, तो भी उनकी चंगुल से मैं छूट नहीं सका। वे कोई बड़े विद्वान न थे अथवा बड़े उत्साह और प्रयत्नों के द्वारा कुछ वर्षों के अनुभव और श्रम से उन्होंने इस (ईश्वर के नास्तित्व) पर विश्वास किया हो, सो कुछ नहीं था। प्रत्युत ये केवल दूसरे लोगों के मत की पुनरुक्ति मात्र किया करते थे। हम दोनों की अवस्था में बहुत अन्तर होने के कारण हम दोनों समान प्रतिपक्षी नहीं थे। तो भी मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति एकत्रित कर उनपर आक्रमण किया करता था। परन्तु अन्त में मुझे ही पराजित होना पड़ता। इससे मेरी जो मानहानि होती, उसका मुझे अत्यंत दुःख होता और कभी-कभी तो मैं रोने तक लगता था।

शिक्षितों का दूसरा दल भी ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाला तो नहीं था, पर धार्मिक बातों में मजा माननेवाला और चैन करनेवाला था। ये लोग एक जगह पर इकट्ठे होकर धार्मिक विधियों के बहाने आल्हादकारक दर्शनीय चीजें, कर्णमनोहर ध्वनि और इत्र आदि की सुगन्ध आदि बातों में मग्न हो जाते थे। पूजन की भरपूर सामग्री वे लोग इकट्ठा किया करते और उसी को सर्वस्व समझकर उसी में तल्लीन हो जाते थे। इन दोनों प्रकार के लोगों को ईश्वर के अस्तित्व में जो संदेह था वह परिश्रमपूर्वक तत्व संशोधन करने के बाद उत्पन्न नहीं हुआ था। प्रत्युत वह दूसरों के मतों का अनुवाद मात्र था।

धार्मिक रूढ़ियों का इस प्रकार अपमान होता देखकर मैं मनमें कुढ़ा करता था। परन्तु इसपर-से मैं यह नहीं कह सकता कि इन बातों का मुझपर कोई प्रभाव बिलकुल नहीं हुआ। नास्तिक के साथ-साथ बौद्धिक, उन्मत्तता और शांति के साथ

रूढ़ियों को तोड़ने की प्रेरणा भी मेरे मन में उत्पन्न हुई। हमारे घर में जो उपासना हुआ करती थी, उससे मेरा कुछ भी संबंध नहीं रहता था। मैंने अपने उपयोग के लिये उन्हें स्वीकार नहीं किया था। मैं अपने मनोविकाररूपी भट्टी से एक ऊँची ज्वाला उत्पन्न करने में तल्लीन हो रहा था। इसी ज्वाला को बढ़ाने के लिये आहुति देने के सिवा मेरा कोई ध्येय नहीं था और मेरे परिश्रम के आगे कोई निर्दिष्ट ध्येय न होने के कारण उन परिश्रमों की कुछ सीमा भी निश्चित नहीं थी। यह एक नियम ही है कि नियत सीमा का सदा अतिक्रम हुआ करता है।

धर्म की जो दशा थी वही मेरे अन्तःकरण की वृत्ति की भी थी। जिस प्रकार धर्म के आस्तिकत्व अथवा नास्तिकत्व की इमारत के लिये मुझे सत्य के पाये की जरूरत नहीं मालूम देती थी, उसी तरह अन्तःकरण की वृत्ति के लिये भी सत्य तत्त्वों के आधार की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं होती थी। भावनाओं में क्षोभ होना अथवा उनका प्रज्ज्वलित होना ही एक मात्र मेरा ध्येय था।

वास्तव में देखा जाय तो हृदय को इसप्रकार बेचैन होने का कोई कारण नहीं है और न कोई बेचैन होने के लिये उसपर जबरदस्ती ही करता है। यद्यपि यह ठीक है कि कोई जान-बूझकर अपने आपको दुःखी बनाना नहीं चाहता, परन्तु दुःख की तीव्रता कमकर देने से वह भी रुचिकर मालूम देने लगता है। हमारे कवि, परमेश्वर की जिस उपासना में निमग्न हो गए थे, उसमें उन्होंने ईश्वर को एक ओर रखकर दुःख में रहे हुए स्वाद को ही बहुत महत्त्व दे दिया है और अभी तक हमारा देश इस अवस्था से मुक्त नहीं हो पाया है। परिणाम यह होता है कि जब हमें धर्म-तत्त्वों के ढूंढ़ने में सफलता नहीं

तब हम धर्म-सम्बन्धी आचार-विचारों पर ही अवलंबित रह जाते और उसी पर अपनी तृषा बुझा लेते हैं। मातृभूमि की सेवा भी हमारी धर्म पर रही हुई श्रद्धा के ही समान है। हमारे देशाभिमान-सम्बन्धी कई कार्यों को मातृभूमि की सेवा का रूप नहीं दिया जा सकता। वे तो हमारे मन की चाह को पूरा करने के लिये अपने आपको प्रवृत्त करने की एक क्रिया मात्र हैं।

२७

यूरोपियन संगीत

जब मैं ब्रायटन में था, तब एक बार किसी संगीत नाटक में स्त्री-पात्र का गायन सुनने को मैं गया था। इस स्त्री का नाम मुझे अच्छी तरह स्मरण नहीं है। संभवतः उसका नाम मेडम नेल्सन अथवा अलबनी था। इससे पहिले अपनी आवाज पर इसप्रकार का प्रभुत्व मैंने किसी में नहीं देखा था। हमारे यहाँ के अच्छे-से-अच्छे गवैये भी अपने आलाप-सम्बन्धी परिश्रम को प्रकट होने से रोकने में असमर्थ होते हैं। उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि आलाप बिना परिश्रम के सहज रीति से लिया जा रहा है। वे निश्चित कल के विरुद्ध बिना कठिनाई के ऊँचा-नीचा स्वर निकाला करते हैं और जानकार लोगों को भी इसमें कोई हानि प्रतीत नहीं होती। क्योंकि हमारे यहाँ तो यह धारणा है कि ठीक-ठीक

राग-रागिनी में बैठाई हुई चीज यदि उसी राग-रागिनी में गाई जाय तो आवाज के उतार-चढ़ाव या हाव-भाव की न्यूनाधिकता का ऐसा कोई अधिक महत्व रहता नहीं है। प्रत्युत कभी-कभी तो यह मत भी प्रतिपादन किया जाता है कि ऐसे तुच्छ दोषों के कारण तो उस चीज (गायन) की अन्तरङ्ग रचना अधिक प्रकाशमान हो जाती है। संभवतः इसी नियम के अनुसार वैराग्य के राजा महादेव के अन्तरङ्ग की महत्ता दिगंबर वृत्ति के कारण अधिक प्रकाशित होती होगी।

परन्तु यूरोप में यह बात नहीं है। वहाँ तो बाह्य ठाट-बाट में जरा भी न्यूनता नहीं दिखलाई पड़ने देने की प्रवृत्ति है। तुच्छ-से-तुच्छ भूल पर भी वहाँ क्षमा प्रदान करने की पद्धति नहीं है। जरा चूके कि श्रोतृ समुदाय ने दिल्लगी उड़ाई। उस समय गानेवाले पर जो हवाइयाँ उड़ने लगती हैं वे देखने ही लायक होती हैं। हमारे यहाँ गाने की मजलिस में तम्बूरे या सारङ्गी के तार ठीक करने, तबला या मृदंग को हथौड़ी से ठोकने-पीटने आदि में यदि घंटा-आधघंटा ले भी लिया जाय तो उसमें किसी को कुछ भी ऐतराज़ नहीं होता, परन्तु यूरोप में ये सब बातें पहले ही ठीक-ठाक कर ली जाती हैं। देखनेवालों के आगे ये बातें नहीं होतीं। पर्दे के भीतर ही सब कुछ पूरा हो जाना चाहिए। देखनेवालों के आगे तो जो कुछ भी किया जाय, सब निर्दोष होना ही चाहिए, ऐसी वहाँ की प्रथा है। हमारे देश में राग-ताल आदि संभाल कर ठीक-ठीक गाना ही मुख्य ध्येय माना जाता है, परन्तु यूरोप में सारा दारोमदार आवाज के ऊपर निर्भर है। वहाँ आवाज को कमाया जाता है। इसीलिये कभी-कभी वे अशक्य प्रकार की आवाज भी निकाल सकते हैं। हमारे देश में हम गाना सुनने जाते हैं और ठीक-ठीक राग में गाना सुनकर प्रसन्न

होते हैं। पर यूरोप-निवासी आवाज सुनने जाते हैं। वहाँ गा
को महत्व नहीं है, किन्तु कमाई हुई आवाज को है।

लण्डन में भी मैंने यही देखा। गाने और सरकस में कु
कुछ भी अन्तर दिखलाई नहीं पड़ा। यद्यपि वहाँ उस गाने
मैंने प्रशंसा की थी; परन्तु उसका स्वाद मुझे कुछ नहीं आया
कोई-कोई आलाप तो मुझे पक्षियों की किलकारी के समा
प्रतीत होता था। उस समय मैं अपनी हँसी नहीं रोक सक
था। मैं इसे मानवीय आवाज का दुरुपयोग समझता था। उ
गायिका के बाद एक गवैये ने गाया। वह मुझे कुछ ठीक माल
हुआ। उस गायन में मुझे मध्यम सप्तक का स्वर विशेष अधिक
मालूम पड़ा, क्योंकि वही कुछ मनुष्य की आवाज मिलता-जुल
था।

इसके बाद ज्यों-ज्यों मैं यूरोपियन संगीत सुनने लगा, त्यों
त्यों उसका मर्म मुझे मालूम होने लगा। परन्तु आज भी मेरी
यही धारणा है कि यूरोप का संगीत और भारतीय संगीत ए
दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और वे दोनों एक ही मार्ग से आदर्श
हृदय तक नहीं पहुँच सकते।

यूरोपियन लोगों के आधिभौतिक व्यवहारों से उनका संगीत
प्रायः एकमेक हो गया है। उनके नाना प्रकारों के जीवन-व्यवहारों
के समान ही गायन-सम्बन्धी विषय भी नाना प्रकार के हैं। परन्तु
हमारे यहाँ यह बात नहीं है। यदि हम चाहें जिस विषय के
गानें बनाकर अपनी रागिनी में गाने लग जाँय, तो उस रागों
का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा और वह एक हास्यजनक दृश्य
होगी। इसका कारण यह है कि हमारी राग-रागिनियाँ व्यव
हारातीत हैं। नित्य नैमित्तिक व्यवहार उन्हें मार्गहीन मालूम

होते हैं। इसीलिये वे (राग-रागनियाँ) कारुण्य अथवा विरक्ति जैसी उदार भावनाओं को जन्म दे सकती हैं। उनका कार्य आत्मा के अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्य का चित्र तैयार करना है। हमारे रागों को गाते-गाते गवैये का मन इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे फिर बनवास ही सूझता है और संकट-ग्रस्त मनुष्य समझने लगता है कि मेरी विनती से परमात्मा रीझ गया और मुझे प्राप्त हो गया है। हमारी राग रागनियों में ऐसी-ऐसी भावनाओं को बहुत सुभीता प्राप्त है और उनमें-से इन्हीं का आलाप निकलता है। हाँ, उनमें यदि किसी को स्थान प्राप्त नहीं है, तो काम-काज में गड़े हुए मात्र संसारी मनुष्य को।

मैं यह बात मंजूर नहीं कर सकता कि मुझे यूरोपियन संगीत के अतिरिक्त रहस्य का परिचय प्राप्त हो चुका है। यद्यपि मैं उसके हृदय में प्रवेश नहीं कर सका, तो भी बाह्य-रूप पर-से मैं जो कुछ ज्ञान प्राप्त कर सका, उसने मुझे एक बात में तो मोहित ही कर लिया है। यूरोपियन संगीत मुझे अद्‌भुत रस प्रचुर मालूम हुआ। जिस कारण से मैंने यहाँ "अद्‌भुत रस प्रचुर" शब्द का उपयोग किया है उसका स्पष्टीकरण करना कठिन है। मैं अधिक-से-अधिक यही कह सकता हूँ कि यूरोपियन गायन के अमुक-अमुक अङ्ग हैं। बहु-विधता, विपुलता और संसार-सागरों की लहरों तथा अखंड रूप से आन्दोलित होनेवाले पूर पर फैले हुए परिवर्तनशील प्रकाश और छाया, यह उसका एक अङ्ग है। इसके साथ-साथ दूसरा अङ्ग है जो इससे सर्वथा ही भिन्न है। वह है—विस्तृत फैला हुआ आकाश, उसका नीला रङ्ग, दूर पर दिखलाई पड़नेवाले क्षितिज की वर्तुलाकृति और उसका चुपचाप विश्व की अनन्तता की ओर इशारा। मेरे इस कथन में संदिग्धता

का दोष भले ही हो, पर मैं यह कह सकता हूँ कि जब-जब यूरोपियन गायन से मनोवृत्तियाँ चञ्चल हो उठती थीं, तब-तब मैं मन-ही-मन कहने लगता था कि "यह संगीत अद्भुत रस प्रचुर है, जीवन की क्षण-भंगुरता को गायन में जगा रहा है।"

मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि हमारे गायन में ऐसा प्रयत्न नहीं दिखलाई पड़ेगा। हमारे गायन के भी किसी भेद-प्रभेद में इसप्रकार का प्रयत्न थोड़े बहुत अंशों में दिखलाई पड़ेगा। अन्तर इतना ही है कि हमारे यहाँ यूरोपियन संगीत के समान इन बातों को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। हमारे यहाँ इन बातों का बहुत कम उल्लेख है और जितना भी उल्लेख किया गया है, उसमें सफलता नहीं मिली है। तारागणों के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि में और सूर्य-किरणों से आरक्त उषःकाल में हमारे राग गाए जाते हैं। मेघों की कृष्ण छाया में विलीन हो जानेवाले और सम्पूर्ण आकाश फैले हुए दुःखों का और निर्जन वन में धक-धक करके बहनेवाले झरनों के निःशब्द और मोहित कर लेनेवाले माधुर्य का करुण-मधुर आलाप उसमें से निकला करता है।

२८

वाल्मीकी-प्रतिभा

मूर की आयरिश रागों की एक सचित्र पुस्तक हमारे पास थी। आनद में बेहोश होकर अक्षय बाबू जब इन रागों को छेड़ते, तब मैं कई बार उन्हें बैठा-बैठा सुना करता था। इस पुस्तक में कविताएं सचित्र थीं। इन चित्रों की सहायता से मैं अपने मन-ही-मन जादू के समान, प्राचीन आयर्लैंड का स्वप्न-चित्र देखा करता था। उस समय तक मैं इन रागों को अच्छी तरह सुन नहीं पाया था। पुस्तक में जो सादगी का चित्र था। उसीके सहारे यह राग मैंने मन-ही-मन गया था। हाँ, मेरी उत्कट इच्छा जरूर थी कि आयर्लैंड को इन रागों को ठीक तौर से सुनूं, सीखूं और फिर अक्षय बाबू को भी सुनाऊं। जीवन में कुछ इच्छाएं अपने दुर्दैव से पूरी होतीं और पूरे होते-होते ही नष्ट भी हो जाती हैं। विलायत जाने पर कुछ आयरिश रागों को सुनने का मुझे अवसर मिला। उन्हें मैंने सीख भी लिया। परिणाम यह हुआ कि मैंने जितने राग-सीखे उनसे ज्यादह सीखने का फिर उत्साह नहीं हुआ। यद्यपि यह ठीक है कि मेरे सीखे हुए राग सादे, प्रेमपूर्ण, मीठे, और करुण रस-पूरित थे, परन्तु मैंने अपनी स्वप्न सृष्टि के द्वारा पुरातन आयर्लैंड के

किसी दीवानखाने में जो गाने सुने थे, उनसे इनका मेल नहीं बैठ सका।

जब मैं भारतवर्ष में लौट आया तो मैंने अपने मित्र-मंडल को अंगरेज़ी गायन सुनाया। उसे सुनकर वे कहने लगे कि 'रवी' की आवाज़ कैसी हो गई। बड़ी विचित्र और विदेशी-सी मालूम होती है।' मेरा स्वर भी उन्हें बदला हुआ मालूम पड़ा।

इसप्रकार देशी विदेशी गायन का मेरे में बीजारोपण हुआ। 'वाल्मीकी प्रतिभा' नामक नाटिका इसी बीजारोपण का फल था। इस नाटक में बहुत-से गायन भारतीय हैं, परन्तु उनमें वह उदार रस नहीं है, जो अनादिकाल से हमारे भारत में बहा आ रहा है। गगन प्रदेश में ऊँचे-ऊँचे चढ़कर बहनेवाली वस्तुओं को इस नाटिका में पृथ्वीतल पर बलात् दौड़ाया गया है, जिसने वह नाटिका देखी होगी या उसके गायन सुने होंगे, मुझे विश्वास है कि वह कभी उन गायनों को भारतीय संगीत के लिये लज्जाजनक या निरुपयोगी नहीं समझेगा। देशी-विदेशी गायनों का मिलन ही इस नाटिका का विशेष गुण है। राग-रागनियों की शृंखला का मनमाना उपयोग करने के उत्साह ने मुझे पागल बना दिया था। 'वाल्मीकी प्रतिभा' के कुछ गायन पहले-पहल शुद्ध भारतीय रागों में बनाए गए थे। इनमें कुछ गायन मेरे भाई ज्योतिरींद्र ने रचे थे। कुछ गायन यूरोपियन राग में बनाए गए थे। भारतवर्ष में "तिल्लाना" राग का नाटक में बहुत उपयोग किया जाता है। अतः इस नाटिका में इस राग का खूब उपयोग किया गया है। मदिरा के नशे में मस्त लुटेरों के गाने के दो पद हैं। इनके लिये अंगरेज़ी राग उचित

समझा गया और बन देवता के शोकद्गार प्रकट करने के लिये आयरिश राग का अच्छा उपयोग हुआ।

'वाल्मीकी प्रतिभा' केवल बांचकर समझने योग्य नाटक नहीं हैं। विना गाए या रंगभूमि पर बिना सुने, उसके गायनों मे कोई रस प्राप्त नहीं होता। यूरोपियन लोग जिसे 'ऑपेरा' कहते हैं वह यह नहीं हैं। यह तो एक छोटा-सा पद्यमय नाटक है प्रयोजन यह कि यह कोई काव्य नहीं है। काव्य-दृष्टि से विचार करने पर इसके बहुत थोड़े गायन महत्वपूर्ण या रमणीय मालूम होंगे। नाटक में संगीत का काम पूरा करना, इतना ही इसका उपयोग है, अधिक नहीं।

विलायत जाने के पहिले हम अपने घर पर समय-समय पर साहित्य-प्रेमी लोगों के सम्मेलन किया करते थे। इन सम्मेलनों में गाना, बजाना, व्याख्यान देना और फिर कुछ खाना-पीना हुआ करता था। मेरे विलायत से आने पर ऐसा एक ही सम्मेलन हुआ और वह भी आखिरी ही था। इसी सम्मेलन में प्रयोग करने के लिये मैंने यह "वाल्मीकी प्रतिभा" नाटिका लिखी थी। इसके प्रयोग में मैंने "वाल्मीकी" का रूप धारण किया था और मेरी भतीजी 'प्रतिभा' ने सरस्वती का। इसप्रकार से उसका नाम नाटक के नाम से संलग्न हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर के एक ग्रन्थ में मैंने पढ़ा था कि भाषण पर मनोविकारों का प्रभाव पढ़ने पर उसमें-ताल-स्वर अपने-ही-आप उत्पन्न होने लगते हैं। यह ताल-स्वर भी शब्द के समान हो महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि प्रेम, द्वेष, दुख, आनन्द, आश्चर्य आदि विकारों को व्यक्त करने के लिये मनुष्य को अपनी आवाज में फर्क करना पड़ता है और इस कला में उन्नति करते-करते ही मनुष्य ने संगीत-शास्त्र को ढूंढ निकाला है। हर्बर्ट स्पेंसर

की इस कल्पना ने मुझपर भी असर किया और मैं विचार करने लगा कि गद्य-पद्यमय नाटक क्यों न तैयार किया जाय। हमारे कथाकार थोड़े बहुत अंशों में यह काम किया करते हैं। वे विषय-निरूपण करते-करते बीच में ही गाने भी लग जाते हैं। इसप्रकार के भाषण, पद्यमय भाषण कहे जा सकते हैं। इनमें राग-रागिनी, ताल वगैरह कुछ नहीं होता। केवल स्वर बदलता रहता है और तुक मिलाने पर ध्यान रखा जाता है। बेतुकी कविता, तुकवाली कविता की अपेक्षा अधिक ढीली-ढाली हुआ करती है। यहाँ रागिनियों के कठिन नियम पालने अथवा ताल स्वर मिलाने का ख्याल नहीं रखा जाता। क्योंकि केवल मनोविकारों को व्यक्त करने का ही एक मात्र ध्येय रहता है और उससे श्रोताओं को भी कुछ दुःख नहीं मालूम होता।

'वाल्मीकि प्रतिभा' में जो इसप्रकार का नवीन उपक्रम किया गया, उसमें सफलता भी प्राप्त हुई थी। इसलिये फिर एक दूसरी नाटिका लिखी। इसका नाम था 'काल मृगया'। रामायण में एक कथा है कि एक बार दशरथ राजा शिकार खेलने गए थे। वहाँ उन्होंने भूल से शिकार की जगह एक ऋषि के एक मात्र पुत्र को मार दिया। इसी कथा के आधार पर यह नाटिका लिखी गई थी। हमने अपनी छत पर एक स्टेज खड़ा करके इस नाटिका का प्रयोग किया। इसे देखकर प्रेक्षक लोग करुण रस के प्रवाह में बहने लगे। पीछे से इस नाटिका में कुछ परिवर्तन किए गए और इसका बहुत-सा हिस्सा 'वाल्मीकि प्रतिभा' में शामिल कर लिया गया। अतएव यह नाटिका स्वतंत्र रूप से छपकर प्रकाशित न हो सकी।

बहुत समय बाद 'माया का खेल' नामक एक तीसरी नाटिका मैंने लिखी। यह उन दोनों से एक भिन्न ही प्रकार की थी। इसमें

पद्यों को अधिक महत्व दिया गया था। पहिली दोनों नाटिकाओं में पद्यों के बगीचे में नाट्य-प्रसंग की माला गूंथी थी और इसमें नाटिका के विधानक में पद्य पुष्पों की माला। इसका मुख्य ध्येय अभिनय नहीं, भावना था। वास्तव में पूछा जाय तो मेरा मन यह नाटिका लिखते समय संगीतमय हो गया था।

'वाल्मीकी प्रतिभा' और 'काल मृगया' ये दोनों नाटिकाएँ लिखते समय मेरे में जो उत्साह था, वह दूसरी किसी भी पुस्तक लिखते समय मुझे अपने में प्रतीत नहीं हुआ। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि ये दोनों नाटिकाएँ उस समय के सङ्गीत को उत्पन्न करनेवाली प्रेरणा का दृश्य फल ही हैं।

नवीन बात को प्रचलित करने के आनन्दातिरेक के कारण ही ये दोनों नाटिकाएँ लिखी गईं। इनके लिखते समय गानों की शुद्धता-अशुद्धता, राग-रागनियों का देशी या विदेशीपन आदि बातों पर ध्यान नहीं रखा गया। मैं तो उत्साहपूर्वक शीघ्रता के साथ इन्हें लिखता ही चला गया।

मैंने ऐसे बहुत-से अवसर देखे हैं, जिनपर मेरे लेख अथवा मेरे मत से बंगला भाषा के पाठकों का मन व्याकुल हो जाता था। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि सङ्गीत-सम्बन्धी रूढ़ि ग्रस्त कल्पनाओं को मेरे धैर्यपूर्वक धुतकार बता देने पर भी वे कुछ भी विचलित नहीं हुए। प्रत्युत मेरे नए तरह के गानों को सुनकर वे प्रसन्न हुआ करते थे। 'वाल्मीकी प्रतिभा' में सब गाने मेरे स्वतः के बनाए हुए नहीं हैं। कुछ गाने अक्षय बाबू ने भी बनाए थे और कुछ 'विहारी चक्रवर्ती की शरद् मंगल माला' के पद्यों के रूपांतर हैं।

इस पद्यमय नाटिका का प्रयोग करके दिखाने में मेरा ही

की इस कल्पना ने मुझपर भी असर किया और मैं विचार करने लगा कि गद्य-पद्यमय नाटक क्यों न तैयार किया जाय। हमारे कथाकार थोड़े बहुत अंशों में यह काम किया करते हैं। वे विषय-निरूपण करते-करते बीच में ही गाने भी लग जाते हैं। इसप्रकार के भाषण, पद्यमय भाषण कहे जा सकते हैं। इनमें राग-रागिनी, ताल वगैरह शुद्ध नहीं होता। केवल स्वर बदलता रहता है और तुक मिलाने पर ध्यान रखा जाता है। बेतुकी कविता, तुकवाली कविता की अपेक्षा अधिक ढीली-ढाली हुआ करती है। वहाँ रागिनियों के कठिन नियम पालने अथवा ताल स्वर मिलाने का ख्याल नहीं रखा जाता। क्योंकि केवल मनोविकारों को व्यक्त करने का ही एक मात्र ध्येय रहता है और उससे श्रोताओं को भी कुछ दुःख नहीं मालूम होता।

'वाल्मीकी प्रतिभा' में जो इसप्रकार का नवीन उपक्रम किया गया, उसमें सफलता भी प्राप्त हुई थी। इसलिये फिर एक दूसरी नाटिका लिखी। इसका नाम था 'काल मृगया'। रामायण में एक कथा है कि एक बार दशरथ राजा शिकार खेलने गए थे। वहाँ उन्होंने भूल से शिकार की जगह एक ऋषि के एक मात्र पुत्र को मार दिया। इसी कथा के आधार पर यह नाटिका लिखी गई थी। हमने अपनी छत पर एक स्टेज खड़ा करके इस नाटिका का प्रयोग किया। इसे देखकर प्रेक्षक लोग करुण रस के प्रवाह में बहने लगे। पीछे से इस नाटिका में कुछ परिवर्तन किए गए और इसका बहुत-सा हिस्सा 'वाल्मीकी प्रतिभा' में शामिल कर लिया गया। अतएव यह नाटिका स्वतंत्र रूप से इधर उधर प्रकाशित न हो सकी।

बहुत समय बाद 'माया का खेल' नामक एक तीसरी नाटिका मैंने लिखी। यह कुछ दोनों से एक भिन्न ही प्रकार की थी। इसमें

पद्यों को अधिक महत्व दिया गया था। पहिली दोनों नाटिकाओं में पद्यों के बगीचे में नाट्य-प्रसंग की माला गूँथी थी और इसमें नाटिका के विधानक में पद्य पुष्पों की माला। इसका मुख्य ध्येय अभिनय नहीं, भावना था। वास्तव में पूछा जाय तो मेरा मन यह नाटिका लिखते समय संगीतमय हो गया था।

'बालमीकी प्रतिभा' और 'काल मृगया' ये दोनों नाटिकाएँ लिखते समय मेरे में जो उत्साह था, वह दूसरी किसी भी पुस्तक लिखते समय मुझे अपने में प्रतीत नहीं हुआ। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि ये दोनों नाटिकाएँ उस समय के सङ्गीत को उत्पन्न करनेवाली प्रेरणा का दृश्य फल ही हैं।

नवीन बात को प्रचलित करने के आनन्दातिरेक के कारण ही ये दोनों नाटिकाएँ लिखी गईं। इनके लिखते समय गानों की शुद्धता-अशुद्धता, राग-रागनियों का देशी या विदेशीपन आदि बातों पर ध्यान नहीं रखा गया। मैं तो उत्साहपूर्वक शीघ्रता के साथ इन्हें लिखता ही चला गया।

मैंने ऐसे बहुत-से अवसर देखे हैं, जिनपर मेरे लेख अथवा मेरे मत से बंगला भाषा के पाठकों का मन व्याकुल हो जाता था। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि सङ्गीत-सम्बन्धी रूढ़ि ग्रस्त कल्पनाओं को मेरे धैर्यपूर्वक धुतकार बता देने पर भी वे कुछ भी विचलित नहीं हुए। प्रत्युत मेरे नए तरह के गानों को सुनकर वे प्रसन्न हुआ करते थे। 'बालमीकी प्रतिभा' में सब गाने मेरे स्वतः के बनाए हुए नहीं हैं। कुछ गाने अक्षय बाबू ने भी बनाए थे और कुछ 'विहारी चक्रवर्ती की शरद मंगल माला' के पद्यों के रूपांतर हैं।

इस पद्यमय नाटिका का प्रयोग करके ...

२९

संध्या-संगीत

जिस समय का मैं विवरण लिख रहा हूं, उन दिनों मैं कविता लिखने में व्यस्त हो रहा था और बहुत-सी कविताएँ लिख डाली थीं। 'मोहित बाबू' ने मेरी जो फुटकर कविताएँ प्रसिद्ध की हैं, इनमें ये कविताएँ 'हृदयवन' के नाम से संगृहीत हैं। 'प्रभात-संगीत' के नाम से मेरी जो कविताएँ प्रसिद्ध हुईं उनमें एक कविता है, उसी कविता पर से 'हृदय-वन' नाम रखा गया था

'बाह्य जगत से मेरा सम्बन्ध था ही नहीं और इस कारण मैं उससे पूर्णतया अपरिचित था। अपने हृदय के चिन्तन में ही निमग्न हो गया था। कारण रहित मनोविकार और ध्येय रहित आकांक्षा इन दोनों के बीच में मेरी कल्पना संचार किया करती थी। ऐसी अवस्था में मैंने जो कुछ रचना की, उसमें से बहुत सी रचनाएँ 'मोहित बाबू' द्वारा प्रकाशित पुस्तक में नहीं आयी गईं। इस पुस्तक में 'संध्या-संगीत' इस शीर्षक से प्रकाशित कविताओं में से थोड़ी-सी कविताएँ 'हृदय-वन' नाम में प्रकट की गई हैं।

मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र और उनकी धर्मपत्नी एक बार दूर के प्रवास को गए थे। इस समय उनके कमरे तथा सामने की छत के खाली पड़े थे। मैंने उन्हें अपने कब्जे में ले लिया और

एकान्त में अपना समय मैं व्यतीत करने लगा। उस समय अपने-आप की ही संगति मुझे प्राप्त थी। ऐसी अवस्था में भी मैं अपने परम्परागत और आज तक चले आए हुए काव्य रचना के व्यवसाय से क्यों पराङ्मुख हो गया ? यह बतलाने में मैं असमर्थ हूँ। संभव है कि जिन्हें मैं प्रसन्न करना चाहता था और जिनकी काव्य-रुचि के अनुसार मेरे विचारों का रूप घड़ा गया था, उनसे पृथक हो जाने के ही कारण उनके द्वारा लादे हुए काव्य-रचना व्यवसाय से भी मैं परावृत्त हो गया होऊं

काव्य-रचना के लिये उन दिनों में स्लेट पट्टी का उपयोग किया करता था। काव्य-रचना के सम्बन्ध से मुक्त होने में मुझे इन चीजों की भी सहायता हुई। पहिले मैं अपनी कविता जिस पोथी में लिखा करता था, सम्भवतः उसे कवि (मेरी) कल्पना की उड़ान पसंद थी, तभी उस पोथी को प्रसन्न करने के लिये, दूसरों से अपनी तुलना करते हुए मैं काव्य-रचना किया करता था। परन्तु इस समय की मेरी मनः स्थिति के योग्य सिलेट-पट्टी ही थी थी। इस समय मुझे मालूम होता था कि सिलेट-पट्टी मुझसे कह रही है—"अरे डरता क्यों है ? जो मन में आवे सो लिख। एक बार हाथ फिराया कि साफ़। डरने का कोई कारण ही नहीं है।"

इस प्रकार बंधनमुक्त होने पर मैंने खुले मन से एक दो कविताएँ बनाईं। उनसे मुझे भीतर-ही-भीतर बड़ा संतोष हुआ और मेरा हृदय कहने लगा कि "मैं जो कुछ रचता हूँ वह मेरा है।" इसे कोई आत्मश्लाघा न समझें। वास्तव में तो हमें अपनी पहली कृतियों का ही अभिमान था। उन कृतियों से उऋण होने के लिये मेरे पास सिवा अभिमान के दूसरा

विचार, किसी को भी निश्चित रूप प्राप्त नहीं हुआ है। पर इनमें एक विशेषता है, वह यह है कि मेरे मन में जो कुछ था वह मैंने अपने मनमाने ढंग से इनमें पहले-पहल लिखना आरम्भ किया। इन कविताओं का मूल्य भले ही कुछ न हो, पर मैंने अपनी मनोभावनाओं को अपने इच्छानुसार जो शाब्दिक रूप दिया, उससे मुझे होनेवाला आनन्द तो कहीं नहीं गया है।

'संगीत' पर निबंध

जब मैं विलायत में था, तब मेरा विचार बैरिस्टरी पढ़ने का था। इतने ही में पिताजी ने मुझे वापिस बुला लिया। मैं लौट आया। विचारपूर्वक निश्चय किया हुआ कार्य बीच में ही छोड़ देना कुछ मित्रों को बहुत अखरा और वे मुझे फिर एक बार विलायत भेजने के लिये पिताजी से आग्रह करने लगे। इनके आग्रह का परिणाम यह हुआ कि मैं फिर अपने एक रिश्तेदार के साथ मैं विलायत जाने के लिए घर से निकला। मेरा भाग्य सर्वथा चलने के इतने विरुद्ध था कि पहिले तो मैं विलायत पहुँच लौटता था और कुछ दिन वहाँ रह भी आया था, परन्तु इस बार तो विलायत पहुँच भी नहीं सका। कुछ कारणों से हमें मद्रास

से, कलकत्ता वापिस लौट आना पड़ा। इसमें संदेह नहीं कि लौटने का कारण कोई बड़े महत्व का नहीं था, तो भी हमारे इस व्यवहार पर कोई हँसा नहीं। इसीलिए मैं यह यहाँ कारण बतलाने की जरूरत नहीं समझता। लक्ष्मी के दर्शनों के लिए वकील बनने का मैंने दो बार प्रयत्न किया, परन्तु दोनों ही बार मुझे असफल होना पड़ा। मुझे विश्वास है कि लोग भले ही इसपर कुछ कहें, पर न्याय देवता मुझसे रुष्ट न होंगे। वकील बनकर उनकी लाइब्रेरी में एक और अधिक वकील की जो मैं बिना कारणबढ़ती करता, वह नहीं हुई। इसपर वह मेरा ही पक्ष लेंगे और मेरी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देखेंगे।

उस समय मेरे पिताजी मंसूरी-पहाड़ पर गए हुए थे। मैं भी डरते-डरते उनके पास गया। परन्तु उन्होंने नाराजी के कोई चिन्ह नहीं बतलाए। प्रत्युत ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ हुआ उसे वे ठीक ही समझते हैं। सम्भवतः मेरे लौटने में वे जगन्नियन्ता का कोई उत्तम हेतु ही समझते होंगे।

'बेथुन सोसायटी' की प्रार्थना से मैडिकल कालेज के हाल में मैंने विलायत जाने के पहिले दिन एक निबन्ध पढ़ा था। इस प्रकार का यह मेरा पहला ही प्रयत्न था। रेवरेंड के० एम्० बैनर्जी सभापति थे। निबन्ध का विषय 'संगीत' था। इसमें वादन के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया गया। इस निबंध में मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि शब्द के सच्चे अर्थ को उत्तम रीति से प्रकट करना ही गायन का अन्तिम ध्येय है। इस निबन्ध में अपने विषय का प्रतिपादन बहुत संक्षेप में किया गया था। अपने विषय को विषद करने के लिये प्रारम्भ से अन्त तक मैंने अभिनययुक्त गाने गा-गाकर

सुरों ने मुझे सौंदर्य के प्रभा-मंडल से घिरी हुई उस अज्ञात व्यक्ति के दर्शन करा दिए। मेरी आत्मा मुझसे कहने लगी कि वह (रमणी) गहन गूढ़ता के सागर के उस पार से इस जगत को समाचार पहुँचाया करती है। वही आती जाती रहती है। ओस पड़े हुए शरद ऋतु के प्रभात समय में अथवा वसन्त ऋतु की सुगन्धित रात्रियों में हमारे हृदय के अन्तरतम प्रदेश में जो कभी-कभी अचानक दिखलाई देती है, वही यह व्यक्ति है। उस सुन्दर स्त्री का गायन सुनने के लिये हम कभी-कभी आकाश में उड़ान मारा करते हैं। इस परकीय भुवन-मोहिनी के दरवाजे तक लाल सुर मुझे उड़ाते हुए ले गए और इसलिये उस चरण के सिवा शेष शब्द भी उसी को उद्देश्य करके लिखे गए।

इसके कई वर्षों बाद बोलपुर के एक रास्ते में एक भिखारी गाना गाता जा रहा था। उस समय भी मुझे यही मालूम हुआ कि यह भिखारी भी उसी बात की पुनरुक्ति कर रहा है। अज्ञात पक्षी (अन्तरात्मा) लोहे के पींजरे में बन्द होकर भी अमर्यादित और अज्ञेय बातों को गुनगुनाया करता है। हृदय ऐसे पक्षी को सदा के लिये अपने निकट रखना चाहता है, पर हृदय में ऐसी शक्ति कहाँ? उन अज्ञात पक्षियों के आने जाने की बात भला सिवा गान सुरों के कौन कह सकता है?

विषय शब्दों से भरी हुई संगीतकला की पुस्तक प्रकाशित करने में मुझे जो बहुत कष्ट होता है, उसका यही कारण है। ऐसे ग्रन्थों में सरसता आनी सम्भव ही नहीं है।

३१

नदी किनारे

दूसरी बार विलायत जाते समय मुझे रास्ते से लौटना पड़ा। उस समय मेरे भाई ज्योतिरीन्द्र अपनी पत्नी-सहित चन्द्रनगर में नदी के किनारे पर रहते थे। लौटने के बाद में उन्हीं के पास रहने चला गया। अहाहा! फिर गंगा नदी। दोनों तटों पर वृक्षों की पंक्ति, उनकी शीतल छाया में-से बहती हुई गंगा नदी का जल-प्रवाह और उस प्रवाह के कल-कल-नाद से मिला हुआ मेरा स्वर। उस समय इष्ट प्राप्ति न होने के कारण मैं दुःखी था, परन्तु साथ ही आनन्ददायक वस्तुओं के उपभोग के कारण थका हुआ था। मेरी दशा अनिर्वचनीय थी। रात्रि के समय बंगाल प्रदेश का प्रकाशमान आकाश, दक्षिण के वायु, गंगा नदी का प्रवाह, किसी राजा में दिखलाई पड़नेवाले राजसी सुस्ती, एक ओर की क्षितिज से लेकर दूसरी ओर की क्षितिज तक तथा हरी-हरी भूमि से लेकर नीले आकाश तक फैला हुआ निकम्मापन, ये सब बातें भूखे प्यासे को अन्न-पानी के समान मेरे लिये थी।

इस बात को कुछ बहुत वर्ष नहीं बीते। परन्तु 'काल' ने कितने ही परिवर्तन कर डाले हैं। नदी तट पर उस वृक्षराजी की शीतल छाया में बनी हुई हमारी झोंपड़ियों के स्थान पर अब मिलें खड़ी हो गई हैं। वे विकराल राक्षस के समान सूं-सूं करती

सुरों ने मुझे सौंदर्य के प्रभा-मंडल से घिरी हुई उस अज्ञात व्यक्ति के दर्शन करा दिए। मेरी आत्मा मुझसे कहने लगी कि वह (रमणी) गहन गूढ़ता के सागर के उस पार से इस जगत को समाचार पहुँचाया करती है। वही आती जाती रहती है। ओस पड़े हुए शरद ऋतु के प्रभात समय में अथवा बसन्त ऋतु की सुगन्धित रात्रियों में हमारे हृदय के अन्तरतम प्रदेश में जो कभी-कभी अचानक दिखलाई देती है, वही यह व्यक्ति है। उस सुन्दर स्त्री का गायन सुनने के लिये हम कभी-कभी आकाश में उड़ान मारा करते हैं। इस परकीय भुवन-मोहिनी के दरवाजे तक ताल सुर मुझे उड़ाते हुए ले गए और इसलिये उस चरण के सिवा शेष शब्द भी उसी को उद्देश्य करके लिखे गए।

इसके कई वर्षों बाद बोलपुर के एक रास्ते में एक भिखारी गाना गाता जा रहा था। उस समय भी मुझे यही मालूम हुआ कि यह भिखारी भी उसी बात की पुनरुक्ति कर रहा है। अज्ञात पक्षी (अन्तरात्मा) लोहे के पींजरे में बन्द होकर भी अमर्यादित और अज्ञेय बातों को गुनगुनाया करता है। हृदय ऐसे पक्षी को सदा के लिये अपने निकट रखना चाहता है। पर हृदय में ऐसी शक्ति कहाँ ? उन अज्ञात पक्षियों के आने-जाने की बात, भला सिवा ताल सुरों के कौन कह सकता है ?

केवल शब्दों से भरी हुई संगीतकला की पुस्तक प्रकाशित करने से मुझे जो बहुत कष्ट होता है, उसका यही कारण है ! ऐसे पदों में सरसता आनी सम्भव ही नहीं है।

हमारे उद्यानगृह का नाम 'मोरेनची बाग' था। जल से लेकर उद्यानगृह के बरामदे तक सीढ़ियाँ थीं। उद्यानगृह के कमरे भी एक समान न होकर भिन्न भिन्न प्रकार की रचनावाले थे। दालान भी एक ऊंचाई पर न होकर कुछ ऊंचे और कुछ नीचे थे। कुछ दालानों पर जीने से चढ़कर जाना होता। दीवानखाना भव्य था। उसका मुंह घाट की तरफ था। दीवानखाने की खिड़कियाँ काँच की थीं उनपर रंग-बिरंगे चित्र बने हुए थे।

एक चित्र ऐसा था कि घनी छाया में आधी ढँकी हुई वृक्ष शाखा पर एक झूला टँगा हुआ है, कहीं प्रकाश है और कहीं अन्धकार। ऐसे कुञ्ज में दो मनुष्य उस झूले पर बैठकर झूल रहे हैं। दूसरा एक चित्र था, उसमें दिखलाया गया था कि किले के समान एक विशाल राज भवन है, उसकी कई सीढ़ियाँ और त्यौहार के समान शृङ्गार करके स्त्री-पुरुषों के झुंड-के-झुंड इधर-उधर घूम रहे हैं। खिड़कियों पर प्रकाश पड़ने पर यह चित्र चमकने लगते और इस कारण बड़े सुन्दर दीखने लगते थे। उनकी सुन्दरता ऐसी मालूम होती थी, मानों वह नदी के ओर के वातावरण को उत्सव-सङ्गीत से पूरित कर रही है। बहुत प्राचीनकाल मे होनेवाली जिस मिजवानी का यह दूसरा चित्र है, उस मिजवानी का ठाट-बाट मुग्ध प्रकाश में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रहा है और पहले चित्र के झूले पर गाया जाने-वाला प्रणय-सङ्गीत, नदी-तट के वन को अपने कथानक से सजीव कर रहा है। उद्यानगृह के सबसे ऊपर का कमरा गोल मीनार के ऊपर था। इसके चारों ओर खिड़कियाँ थीं। कविता बनाने के लिये मैं इस कमरे में बैठा करता था। नीचे वृक्ष और ऊपर आकाश के सिवा वहाँ से और कुछ नहीं दीखता था। उस

हुई अपना मस्तक ऊँचा किए खड़ी हैं। आज-कल की रहन-सहन रूपी दुपहरी की चकचकाहट में मानसिक विश्रांति का समय नष्ट-प्राय: अवस्था को पहुँच चुका है। उस स्थान पर अनन्त मुखवाली अशांतता ने चारों ओर से आक्रमण कर रक्खा है। कोई उसे भले ही हमारे कल्याण की बात समझे, पर मैं तो यह किसी भी अंश में स्वीकार नहीं कर सकता। कोई कुछ भी कहे, पर मेरा तो यही मत है।

पवित्र गंगा नदी में देवता पर से उतरे हुए निर्माल्य कमल पुष्पों के बहने के समान मेरे दिन भी सर-सर निकल गए। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मानो गंगा नदी में निर्माल्य कमल पुष्पों का ही बहा जा रहा है। वर्षाऋतु में दोपहर के समय प्राचीन वैष्णव पद अपने ताल-सुर में गाते और हारमोनियम बजाते हुए किसी भ्रमित व्यक्ति के समान मैंने कुछ दिन व्यतीत किए। कभी-कभी तीसरे पहर नाव में बैठकर हमलोग नदी में घूमा करते थे। उस समय मैं गाता और ज्योतिरीन्द्र सारङ्गी बजाता था। पहले 'पूरबी' राग में गाना शुरू करते, फिर ज्यों-ज्यों दिन ढलता जाता, त्यों-त्यों राग भी बदलता जाता और अन्त में 'विहाग' राग छेड़ते। उस समय पश्चिम दिशा अपने सुनहरी खिलौने की दूकान का दरवाजा बन्द करती और वृक्षों की पंक्ति पर चन्द्र का उदय होता हुआ दिखलाई पड़ता था।

फिर हमारी नाव उद्यान गृह के घाट पर आकर लगती। उद्यान की गद्दी पर जाजम डालकर हम नदी की ओर देखा करते थे। उस समय पृथ्वी और जल पर सर्वत्र रुपहली शांतता फैली हुई दिखलाई पड़ती थी। कहीं-कहीं कोई नाव भी दिखलाई पड़ जाती। तट पर की वृक्ष-पंक्तियों के नीचे काली छाया फैली हुई होती और शांत-प्रवाह पर चन्द्र की चन्द्रिका।

चश्मा लगाते हुए देखकर यह कहना कि यह केवल फैशन' के लिये लगाया गया है, व आँखें मिचकाना सम्भव हो सकता है और व्यवहार में ऐसा होता भी है, पर वह नहीं दीखने का ढोंग करता है, ऐसा उसपर आक्षेप करना अत्यन्त निंद्य है। भ्रमय स्थिति सृष्टि की उत्क्रांति की एक अवस्था है। इस अवस्था पर किसी हेतु विशेष का आरोप करना उचित है।

जिस कवित्व में निश्चितता न हो, उसे किसी काम का न समझने से साहित्य के वास्तविक तत्वों की हमें कभी प्राप्ति न होगी। यदि ऐसे कवित्व में मनुष्य-स्वभाव की कोई वास्तविक बाजू प्रकट की गई हो तो वह कवित्व अवश्य संग्राह्य है। मनुष्य स्वभाव का यदि कोई यथार्थ चित्र उस कविता में न हो तभी उसे दूर करना चाहिये। मनुष्य जीवन में ऐसा भी एक समय होता है जब कि अनिर्वचनीय बातों के सम्बन्ध में करुणावृत्ति और अस्पष्टता की चिंता ही उसकी मनोभावना बन जाती है। जिन कविताओं में कोई भी मनोभावना प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है वे कविताएँ अप्रयोजनीय नहीं मानी जा सकतीं। बहुत हुआ तो उनका कोई मूल्य नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है; परन्तु वह भी विश्वासपूर्वक नहीं। यह दोष उन भावनाओं का नहीं हो सकता, जिन्हें व्यक्त किया गया है; किंतु उस असफलता का दोष है जिसके कारण भावनाओं को स्पष्ट रूप नहीं दिया जा सका।

मनुष्य में भी अन्तर और बाह्य ऐसा द्वैत है। आचार-विचार और भावनाओं के प्रवाह के पीछे रहे हुए अन्तरात्मा का प्रायः बहुत कम ज्ञान हो पाता है। जीवन की वृद्धि का अन्तरात्मा एक साधन है। उसे छोड़ देने से काम नहीं चलेगा। जब बाह्य और अन्तर व्यवहारों का परस्पर मेल नहीं रहता,

समय में 'संध्या सङ्गीत' की रचना समाप्त हो गया था। इसमें मैंने अपने इस स्थान के सम्बन्ध में भी एक कविता लिखी थी।

३२

संध्या-सङ्गीत

इस समय साहित्य समालोचकों में, ताल-सुर के परम्परागत नियमों को एक ओर रखकर नए नियमों को चलाने और तोतले गानेवाले के नाम से मैं प्रसिद्ध हो गया था। मुझपर यह आरोप था कि मेरे लेख स्पष्ट नहीं होते। उस समय भले ही यह आरोप मुझे न रुचा हो, पर यह निराधार आरोप नहीं था। इसमें थोड़ा-बहुत सत्य भी जरूर था। वास्तव में मेरे कवित्व को संसार के अनुभव का 'बल नहीं था और यह बल मिल भी कैसे सकता है, जब कि बाल्यावस्था में एकांतवास में बन्दी बनाकर मैं रखा गया था।

मेरे पर किया हुआ आरोप भले ही निराधार न हो, पर उस आरोप के पीछे छिपी हुई एक बात तो मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकता। वह यह कि मैं लोगों के मन पर अधिक परिणाम होने के लिये जान बूझकर ऐसी गूढ़ पद्धति का अवलम्बन करता हूँ। इस आक्षेप से मुझे बहुत दुःख होता था। सुदैव से जिनकी दृष्टि निर्दोष है उनके लिये किसी युवक को

उसका कोई साध्य नहीं रहता। केवल 'मैं लिखनेवाला हूँ' इतनी भावना ही मेरे लिखने के उत्साह के लिये काफी थी। आगे जाकर मेरे यह सब गद्य लेख 'विविध प्रबन्ध' के नाम से प्रकाशित हुए और पहली आवृत्ति में ही उनका अन्त भी हो गया। पुनरावृत्ति के द्वारा बेचारों को फिर पुनर्जन्म न मिल सका।

मुझे स्मरण है कि मैंने इसी समय अपना पहला उपन्यास 'बऊ ठकुरानीर हाट' प्रारम्भ किया था।

नदी तट पर कुछ दिन रहने के बाद ज्योतिरीन्द्र कलकत्ता चले आए। यहाँ म्यूजियम के समीप आमा रास्ते पर एक मकान लेकर ये रहने लगे। मैं भी इन्हीं के पास में रहता था। इस जगह पर रहते हुए उक्त उपन्यास और संध्या-संगीत लिखते-लिखते मेरे अन्तरङ्ग में कुछ महत्वपूर्ण क्रांति हुई।

एक दिन संध्या के समय मैं 'जोड़ा सांको' वाले घर की गच्ची पर घूम रहा था। अस्त होनेवाले सूर्य का प्रकाश, संध्या काल के प्रकाश से इस तरह मिल गया था कि सर्वत्र फैला हुआ संध्याऽगमन मुझे विशेष चित्ताकर्षक मालूम हुआ। इस दृश्य ने मुझे मोहित कर डाला। सौंदर्य की अतिशयता से मेरा मन इतना भर गया कि नजदीक वाले घर की दीवालें भी अधिकाधिक सुन्दर होती जा रही हैं—ऐसा मुझे प्रतीत होने लगा। आश्चर्यचकित होकर मैं अपने आपसे पूछने लगा कि दृश्य के परिचित जगत पर से क्षणभंगुरत्व का अच्छादन ...ज दूर हो जाने का क्या करण है? इस सायंकलीन प्रकाश ... जादू तो नहीं है?—नहीं! ऐसा तो नहीं हो

पूर्ण उद्‌गारों से उन्होंने मेरे में उत्साह उत्पन्न किया। यदि उन्होंने मेरी प्रशंसा न की होती, तो उस अवस्था में मैंने जो जमीन तैयार की और आज उसकी फसल काट रहा हूँ—फल प्राप्त कर रहा हूँ—वह फल प्राप्त होता कि नहीं, यह कहना कठिन है।

३३

प्रभात-संगीत

गंगा तट पर रहते हुए मैंने थोड़ा-सा गद्य भी लिखा था। यह गद्य किसी खास विषय पर या कोई विशेष हेतुपूर्वक नहीं लिखा था। किंतु जिसप्रकार बालक पतंग उड़ाते हैं, उसी प्रकार साधारण रीति से मैंने यह सब लिख डाला था। अन्तरंग में जब वसन्त का आगमन होता है, तब अनेक प्रकार की क्षणिक कल्पनाएं भी उत्पन्न हुआ करती हैं। ये कल्पनाएँ मन में इधर-उधर दौड़ा करती हैं। बिना विशेष घटना हुए अपना ध्यान भी उनकी ओर नहीं जाता। यह अवकाश का समय था। संभवतः इसीलिये जो ध्यान में आवे उसी का संग्रह करने की इच्छा मुझे हुई होगी। अथवा मेरी आत्मा ने जो बन्धन मुक्त होने पर मन में आवे सो लिखने का निश्चय किया था, उसी निश्चय का यह दूसरा पहलू होगा। मैं जो कुछ इस समय लिखता

उसका कोई साध्य नहीं रहता। केवल 'मैं लिखनेवाला हूँ' इतनी भावना ही मेरे लिखने के उत्साह के लिये काफी थी। आगे जाकर मेरे यह सब गद्य लेख 'विविध प्रबन्ध' के नाम से प्रकाशित हुए और पहली आवृत्ति में ही उनका अन्त भी हो गया। पुनरावृत्ति के द्वारा बेचारों को फिर पुनर्जन्म न मिल सका।

मुझे स्मरण है कि मैंने इसी समय अपना पहला उपन्यास 'बऊ ठकुरानीर हाट' प्रारम्भ किया था।

नदी तट पर कुछ दिन रहने के बाद ज्योतिरीन्द्र कलकत्ता चले आए। यहाँ म्यूजियम के समीप आमा रास्ते पर एक मकान लेकर ये रहने लगे। मैं भी इन्हीं के पास में रहता था। इस जगह पर रहते हुए उक्त उपन्यास और संध्या-संगीत लिखते-लिखते मेरे अन्तरङ्ग में कुछ महत्वपूर्ण क्रांति हुई।

एक दिन संध्या के समय मैं 'जोड़ा सांको' वाले घर की गली पर घूम रहा था। अस्त होनेवाले सूर्य का प्रकाश, संध्या काल के प्रकाश से इस तरह मिल गया था कि सर्वत्र फैला हुआ संध्याऽगमन मुझे विशेष चित्ताकर्षक मालूम हुआ। इस दृश्य ने मुझे मोहित कर डाला। सौंदर्य की अतिशयता से मेरा मन इतना भर गया कि नजदीक वाले घर की दीवालें भी अधिकाधिक सुन्दर होती जा रही हैं—ऐसा मुझे प्रतीत होने लगा। आश्चर्यचकित होकर मैं अपने आपसे पूछने लगा कि 'नित्य के परिचित जगत पर से क्षणभंगुरत्व का अच्छादन आज दूर हो जाने का क्या कारण है ? इस सायंकलीन प्रकाश में कोई जादू तो नहीं है ?—नहीं। ऐसा तो नहीं हो सकता'।

तुरन्त ही मेरे ध्यान में आ गया कि यह सायंकाल का अन्तरङ्ग पर हुआ परिणाम है। सायंकाल की कृष्णच्छाया ने मेरी आत्मा को घेर लिया था। दिन के चकचकित प्रकाश में मेरी आत्मा को भ्रमण करते समय में जो कुछ दीखता था वह सब उसमें विलीन होकर अदृश्य हो जाया करता था। परन्तु अब आत्मा को पार्श्व में छोड़ देने से जगत को उसके इस वास्तविक रूप में मैं देख सका कि उसमें क्षुद्रता का अंश भी नहीं है। वह तो सौंदर्य और आनंद से ओत पोत है। यह अनुभव प्राप्त होने पर अपने अहंकार को दबाकर जगत की ओर केवल द्रष्टा बनकर देखते रहने का मैं प्रयत्न करने लगा। उस समय मुझे एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रतीत होने लगा। एक बार मैं अपने एक रिश्तेदार को यह समझाने लगा कि जगत की ओर किस रीति से देखना चाहिए और इस रीति से देखने पर मन का भार किस प्रकार हलका हो जाता है। मैं समझता हूँ कि मेरा यह प्रयत्न संभवतः सफल नहीं हो सका। इसके बाद इस गूढ़ रहस्य के संबंध में मेरी और भी प्रगति हुई और वह चिरस्थायी हुई।

हमारे सदर रास्तेवाले घर से इस रास्ते के दोनों छोर दिखलाई पड़ते थे। एक छोर की स्कूल के क्रीड़ागण में जो वृक्ष थे उन्हें मैं एक दिन बरामदे में खड़ा-खड़ा देख रहा था। इन वृक्षों के पत्तों से बने हुए शिखर पर से सूर्यनारायण की सवारी ऊपर आ रही थी। इस दृश्य के देखते-देखते मेरे नेत्रों पर से जैसे पटल दूर हो गया, मुझे दीखने लगा कि सम्पूर्ण जगत चमत्कारजन्य प्रकाशित है और उसमें चारों ओरसे सौंदर्य तथा आनंद की लहरों पर लहरें उठ रही हैं। इस प्रकाश ने मेरे हृदय पर जमे हुए खेद और नैराश्य के थरों को एकदम

नष्ट कर दिया और अपने विश्वव्यापी तेज से मेरा हृदय भर डाला।

उसी दिन 'जलपात जागृति' नामक कविता मेरे हृदय से बाहर निकल पड़ी और धबधबे के समान उसका प्रवाह बहने लग गया। कविता पूरी हो गई, पर विश्व के आनन्दमय रूप पर कोई आवरण नहीं पड़ा। आगे जाकर तो यह कल्पना इतनी दृढ़ीभूत हो गई कि मुझे कोई भी व्यक्ति अथवा वस्तु क्षुद्र, कष्टप्रद अथवा आनन्दरहित प्रतीत नहीं होती थी। इसके दूसरे या तीसरे ही दिन एक और बात हुई, वह मुझे विशेष चमत्कारपूर्ण मालूम हुई।

एक बड़ा विचित्र मनुष्य था। वह मेरे पास बारम्बार आता और पागलों जैसे प्रश्न किया करता था। एक दिन उसने पूछा-'आपने अपनी आँखों से कभी परमेश्वर को देखा है?' मैंने कहा नहीं' उसने कहा—'परमेश्वर की मूर्ति एकदम मुझे ही दिखलाई पड़ी और तुरंत ही वह अदृश्य हो गई।'

ऐसे मनुष्य के साथ इसप्रकार की बातचीत से किसी को भी आनन्द नहीं होगा और मैं तो उस समय लेखनकार्य में अत्यन्त व्यस्त भी था। परन्तु वह आदमी बहुत सीधा सादा था। इसलिए उसके श्रद्धालु भावों को मैं दुखाना नहीं चाहता था और उसकी सब बातें यथाशक्ति शांत चित्त से सुन लिया करता था।

परन्तु मैं जिन दिनों की बातें यहाँ लिख रहा हूं, उन दिनों तो सभी कुछ बदल गया था। इन्हीं दिनों में वह एक दिन शाम के समय आया। उसके आने से दुःख होने की अपेक्षा मुझे आनन्द हुआ और मैंने उसका यथोचित स्वागत भी किया। इस

समय उसपर से विक्षिप्तता का आवरण हमें हटा हुआ प्रतीत हुआ। हमें मालूम होने लगा कि मैं जिस मनुष्य का इतने आनन्द से स्वागत कर रहा हूं, वह मेरी अपेक्षा किसी भी दृष्टि से कम नहीं है, प्रत्युत उसका मेरा निकट-सम्बन्ध भी है। पहले जब वह आता, तब तो कष्ट हुआ करता और मैं अपना समय व्यर्थ गया हुआ समझता था। परन्तु इस समय यह बात नहीं थी। अब तो मेरा मन आनन्दित हो रहा था और प्रतीत हो रहा था कि बिना कारण दुःख और कष्ट उत्पन्न करनेवाले असत्य के जाल से मैं मुक्त हो गया हूँ।

बरामदे के कठड़े के पास खड़ा होकर रास्ते से आने-जानेवाले लोगों को मैं देखा करता था। हर एक के चलने की रीति, उसके शरीर का गठन, नाक, कान आदि अवयव, देखकर मेरा मन 'धक' हो जाता और मालूम होता कि ये सब मानों विश्वसागर की तरङ्गों को पीछे ढकेल रहे हैं। लड़कपन से मैं ये सब बातें केवल अपने चर्मचक्षुओं से ही देखता आ रहा हूं। परन्तु अब ज्ञान-शक्ति की संयुक्त सहायता से मैंने देखना प्रारम्भ किया। एक दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर हँसते-खेलते जानेवाले दो तरुणों को देखता तो मैं उसे कोई क्षुद्र बात न समझकर यह समझता कि मैं आनन्द को शाश्वत और अनन्त झरने के तल को देख रहा हूं, जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत में हास्य के अनन्त तुषार फैला करते हैं।

मनुष्य के जरा भी हिलने-डुलने पर उसके अवयव और स्नायुओं का कार्य शुरू होता है। इनका यह खेल मैंने पहिले कभी लक्ष्यपूर्वक नहीं देखा था। अब तो प्रति समय उनकी लीलाओं के नाना भेद मुझे सर्वत्र दीखने लगे और उससे मैं मोहित भी हो गया। पर इनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व मुझे नहीं

दीखा। किन्तु सम्पूर्ण मानवी सृष्टि में, प्रत्येक घर में और उनकी नाना प्रकार की आवश्यकताओं तथा कार्यों में जो आश्चर्यजनक सुन्दर नृत्य सदा होता रहता है, उसी का यह भी एक विभाग है, ऐसा प्रतीत होने लगा।

एक मित्र दूसरे मित्र के सुख-दुःख का हिस्सेदार बनता है। माता सन्तान को प्यार करती है, उसे कंधे पर बिठला कर खिलाती है। एक गाय दूसरी गाय के पास खड़ी हो जाती है और चाटती है। इन सब घटनाओं को देखकर इनके पीछे रहा हुआ 'अनन्तत्व' मेरी दृष्टि के आगे खड़ा हो जाता है। उसका मुझपर ऐसा परिणाम होता है कि मैं घायल हो जाता हूँ। इस समय के सम्बन्ध में आगे जाकर मैंने एक स्थान पर लिखा था कि "मेरे हृदय ने एकाएक अपने द्वार कैसे खोल दिए और अनन्त सृष्टि को हाथ में हाथ मिलाए हुए किस तरह अन्तर में प्रवेश होने दिया, यह मेरी समझ में नहीं आया। यह कवि की अतिशयोक्ति नहीं थी। मैं तो अपने मन को जो ठीक प्रतीत हुआ और मेरे अनुभव में जो आया—वह सब ज्यों-का-त्यों योग्य शब्दों में प्रकट ही नहीं कर सका।

इस स्वतः को भूल जानेवाली स्थिति में मैं कई दिनों तक रहा और इसका मीठा अनुभव लेता रहा। फिर मेरे भाई ने दार्जिलिंग जाने का निश्चय किया। 'अयं विशेषः' यह भी विशेषता ही हुई, यह जानकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मुझे मालूम होने लगा कि जिस गूढ़ बात का मुझे सदर रास्ते पर रहते समय ज्ञान हुआ, वही बात हिमाचल की उत्तुङ्ग शिखर पर मुझे और भी अच्छी तरह से देखने को मिलेगी। उसके अन्तरङ्ग का मुझे गहन ज्ञान होगा और नहीं तो मेरी नूतन दृष्टि को हिमालय कैसा दीखता है, इसी का मुझे अनुभव होगा।

परन्तु मेरा अनुमव भ्रमपूर्ण निकला। विषय-श्री ने मेरे स
सदर रास्तेवाले घर को ही जयमाला पहनाई थी। पर्वत-शिख
पर चढ़कर जब मैं आस-पास देखने लगा तब क्षणमात्र में मे
नूतन दृष्टि नष्ट हो गई और यह बात भी तुरन्त ही मेरे ध्या
में आ गई। बाह्य सृष्टि से सत्य की अधिक प्राप्ति की मे
आशा ही गलत थी। मैंने जो यह आशा की थी, वह एक तर
से पाप ही किया था। पर्वतराज की शिखरें भले ही गगन-चुम्ब
क्यों न हों, परन्तु मुझे दिव्यदृष्टि देने योग्य उनके पास कु
नहीं था। जो दाता है वह तो किसी भी जगह—गंदी गलियं
तक में—क्षणमात्र का विलम्ब किए बिना शाश्वत जगत की दिव
दृष्टि का दान कर सकता है।

वृक्षों और पौधों में मैं भटका। घबघबों के पास बैठा
उनके पानी में यथेच्छ डुबकियाँ लगाईं। मेघ रहित आका
में कांचन गंगा की शोभा देखी। परन्तु वह चीज मुझे नहीं
मिली। मुझे उसका ज्ञान हो गया था, पर वह मेरे दीखती न
थी। हीरे के रत्नखंड की ओर मैं देखने ही पाया था कि उनकी
पेटी का ढक्कन बन्द हो गया। मैं चित्र के समान बन्द पेटी की
ओर देखता रह गया। उस पेटी की नक्काशी सुन्दर और चित्ता-
कर्षक होने पर भी मेरी दृष्टि में वह पेटी खाली थी, परन्तु मेरी
इस भ्रमपूर्ण समझ से उसकी कोई हानि नहीं।

मेरी 'प्रभात-सङ्गीत' रचनापूर्ण हो गई थी। दार्जिलिंग में
लिखी हुई 'प्रति[illegible]' नामक कविता ही उसकी अन्तिम कविता
थी। लोगों को मालूम होने लगा कि इसमें अवश्य कुछ-न-कुछ
रहस्य छिपा है। इसी पर एक बार दो मित्रों में परस्पर होड़
हुई। संतोष की बात इतनी ही थी कि वे दोनों मेरे पास ही
अर्थ समझने के लिये आए। परन्तु उस कविता का रहस्य मेरे

करने में उनके समान मैं भी असमर्थ निकला। अरेरे! वे कैसे दिन थे, जब मैं कमल और कमलाकर पर अत्यन्त सीधी-सादी कविता रचा करता था। वे दिन कहाँ गए।

क्या कोई मनुष्य कुछ बात समझाने के लिये कविता लिखा करता है? बात यह है कि मनुष्य के हृदय को जो प्रतीत होता है, वह काव्य-रूप में बाहर निकलने का प्रयत्न किया करता है। यदि ऐसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता, तो उस समय मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता, तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या? यह तो केवल 'भासमात्र' है। इसपर भी वह यदि यही कहे कि 'हाँ, यह तो ठीक है, मैं भी जानता हूँ, पर इसका अर्थ क्या?' और इसी तरह बार-बार प्रश्न करने लगे तो उससे छुटकारा पाने के लिये दो ही मार्ग हैं-या तो उस विषय की चर्चा ही बदल दी जाय अथवा यह सुगन्ध, फूल में विश्व के आनन्द की धारणा की हुई आकृति है, यह कहकर उस विषय को और भी अधिक गहन बना दिया जाय।

शब्द अर्थात्मक होते हैं। इसीलिये कवि यमक और छन्द के साँचे में उन्हें ढालता है। उसका उद्देश्य शब्द को अपने दबाव में रखने का होता है। जिससे उनका प्रभाव न बढ़ सके और मनोभावनाओं का अपना स्वरूप प्रकट करने का अवसर मिले।

मनोभावनाओं को इसप्रकार प्रकट करना कुछ मूलतत्वों का प्रतिपादन नहीं है और न शास्त्रीय चर्चा ही है। न नैतिक तत्वों की यह शिक्षा ही है। वह तो अश्रु अथवा हास्य आदि अंतरङ्ग

सम्बन्धी बातों का चित्र है। शास्त्र अथवा तत्त्वज्ञान को काव्य से कुछ लाभ प्राप्त करना हो, तो वे भले ही कर लें, पर यह निश्चित नहीं है कि काव्य से उन्हें लाभ होना ही चाहिए। वे (तत्त्वज्ञान आदि) काव्य के अस्तित्व के कारण नहीं हैं। नाव में बैठकर जाते समय यदि मछलियाँ मिलें और उन्हें पकड़ सकें तो यह पकड़नेवाले का सुदैव परन्तु इस कारण यह नाव मछली पकड़नेवाली नाव नहीं कहला सकती और न उस नाव के माँझी को मछली पकड़ने का धंधा न करने के कारण कोई दोष ही दे सकता है।

'प्रतिध्वनि' नामक कविता लिखे, इतने दिन हो चुके हैं कि वह अब किसी के ध्यान में नहीं आती और न अब कोई उसका गूढ़ार्थ समझने के लिये ही मेरे पास आता है। उसमें दूसरे गुण-दोष भले ही कुछ हों, पर मैं पाठकों से यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि उस कविता के रचने में मेरा उद्देश्य किसी रहस्य को प्रतिपादन करने का नहीं था और न अपनी भारी विद्वता प्रकट करने का ही था। किन्तु बात तो यह थी कि मेरे हृदय में एक प्रकार की छटपटाहट थी, वही कविता रूप में प्रकट हुई और दूसरा कोई नाम ध्यान में न आने के कारण उसका 'प्रतिध्वनि यह नामाभिधान कर डाला।

विश्व के मध्य में बहते हुए झरने से संगीत का प्रवाह बहकर विश्व भर में फैलता है और उसकी प्रतिध्वनि हमारे प्रिय जनों और आस-पास की सुन्दर वस्तुओं से टकरा कर दूर रहनेवाले हमारे हृदय में वापस लौट आती है। मेरे ऊपर यह अनुसार हम जो प्रेम करते हैं वह उन वस्तुओं पर नहीं करते, जिनसे प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है, किंतु प्रतिध्वनि पर ही शायद करते हैं। क्योंकि कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक समय

हम जिस चीज को देखना तक नहीं चाहते, दूसरे समय में वही चीज हमारे मन पर अत्यन्त प्रभाव जमा लेती है। हम उसके दास बन जाते हैं और वह हमारी देवता तक बन जाती है।

इतने दिनों तक मैं जगत का बाह्य-स्वरूप ही देखा करता और इस कारण उसका सर्वव्यापी आनन्दमय रूप मुझे नहीं दीखता था। इसके बाद एक बार प्रकाश की एक किरण अचानक चमकी और उसने सर्व-जगत को प्रकाशित कर डाला। उस समय से मुझे यह जगत असंख्य वस्तुओं का ढेरमात्र अथवा उसमें होनेवाले कार्यों का एक विशाल संग्रहमात्र न दीखकर वह एक 'पूर्ण वस्तु' दीखने लग गया और तब से मुझे मालूम होने लगा कि यह अनुभव मुझसे यह कह रहा है कि—'विश्व की गहन गूढ़ता में-से गाने के प्रवाह का उद्गम होकर वह काल और क्षेत्र पर फैल रहा है और वहाँ से आनन्द की लहरों के समान उसकी प्रतिध्वनि निकल रही है।

जब कोई सुचतुर कवि हृदय के भी हृदय में-से संगीत का आलाप निकालता है, तब उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है और गाना जब सुनने को मिलता है तो वह आनन्द दुगुना हो जाता है। इस तरह कवि की कृति आनन्द के पूर में बहकर उसके पास वापस आती है और तब वह स्वयं भी उस पूर में निमग्न हो जाता है। ऐसा होने पर प्रवाह के ध्येय का उसे ज्ञान हो जाता है। पर वह इस रीति से होता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ज्यों-ज्यों इसप्रकार का ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों आनन्द भी बढ़ता ही जाता है और आनन्द के प्रवाह के साथ-साथ उसके अपरिमित ध्येय की ओर अपने दुःख-कष्ट आदि को एक ओर रख वह स्वतः जाने लगता है। सुन्दर

वस्तु के दीखते ही उसकी प्राप्ति के लिये मन में जो छटपटाहट होने लगती है उसका यही कारण है।

अपरिमित से निकलकर परिमित की ओर बहकर आनेवाले प्रवाह को ही 'सत्य' 'सत्व' कहा जाता है। वह निश्चित नियमों के द्वारा नियन्त्रित होता है। अपरिमित की ओर लौटकर आनेवाली उस प्रवाह की प्रतिध्वनि ही 'सौंदर्य' और 'आनन्द' है। इन दोनों को स्पर्श करना या कसकर पकड़ रखना अत्यन्त कठिन है। इसलिये यह हमें पागल बना देते हैं। 'प्रतिध्वनि' नामक कविता में मैंने यही बात प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। मेरा यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ अथवा अपना कथन मैं विशद न कर सका, इसपर आश्चर्य करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि उस समय मुझे ही मेरी बातों का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ था।

कुछ वर्षों के बाद बड़े हो जाने पर 'प्रभात संगीत' के संबंध में मैंने एक लेख लिखा था। पाठकों की आज्ञा लेते हुए मैं यहाँ उस लेख का सार देना उचित समझता हूँ:—

'एक विशिष्ट अवस्था में यह मालूम होने लगता है कि जगत में कुछ नहीं है। जो कुछ है, सब अपने हृदय में है। जिस प्रकार दांत निकलते समय बालक यह समझता है कि सब वस्तुएँ अपने मुंह में रखने के ही लिए हैं, उसी तरह जब हृदय जागृत होता है, तब वह भी सम्पूर्ण जगत को लपेटकर छाती से लगाने के लिये हाथों को पसारता है। हेयोपादेय (त्याज्य और ग्राह्य) का ज्ञान उसे पीछे क्रमशः होता है। हृदय पर पसरे हुए मेघ संकुचित होने लगते हैं और उनमें से उष्णता उत्पन्न होती है और वह उष्णता फिर सामाजिक शांति से दूसरों को संतप्त करने लगती है। सम्पूर्ण जगत की प्राप्ति की इच्छा करने से कुछ भी

प्राप्त नहीं होता। जब अपनी सर्वशक्तियों को एकत्रित कर किसी एक वस्तु पर, वह कुछ भी क्यों न हो, अपनी इच्छा केन्द्रीभूत की जाती है तब 'अपरिमित' तक पहुँचने का द्वार दीखने लगता है। 'प्रभात संगीत' के द्वारा प्रथम ही मेरी अन्तरात्मा बाहर प्रकट हुई थी। इस कारण उक्त प्रकार के केन्द्रीभूत होने के कोई चिन्ह इसमें नहीं दिखलाई पड़ते।'

यह प्रथम प्रकटीकरण का सार्वत्रिक-आनंद, वस्तुविशेष पर से हमारा परिचय करा देता है। जब कोई सरोवर लबालब भर जाता है, तब उसका जल निकलने का मार्ग ढूंढ़ता है। फिर वह जल एक स्थान पर न रहकर चारों ओर बहने लगता है। इस तरह आगे प्राप्त होनेवाला, शाश्वत प्रेम प्रथम प्रेम की अपेक्षा संकुचित कहलाता है। प्रथम प्रेम का कार्यक्षेत्र निश्चित स्वरूप का होता है और फिर वह प्रत्येक भाग-विभाग में-से 'सम्पूर्ण अविच्छिन्न' वस्तु को खोजने की इच्छा करता है और इस रीति से वह प्रेम अपरिमित की ओर खिंचने लगता है। अन्त में उसे जो वस्तु प्राप्त होती है, वह हृदय का पूर्वकालीन अमर्यादित आनद न होकर अपने से दूर रहनेवाला 'अपरिमित सत्य' होता है। उसी में वह प्रेम विलीन हो जाता है और इसप्रकार अपनी ही इच्छा में-से सम्पूर्ण 'सत्य तत्व' की उसे प्राप्ति होती है।

मोहित बाबू ने मेरी जो कविताएँ प्रकाशित की हैं, उनमें 'प्रभात संगीत' का शीर्षक 'निष्क्रमण' रखा है। क्योंकि अन्धकारमय 'हृदय भवन' में-से खुले जगत में मेरे आने के समाचार इन्हीं कविताओं में-से प्रकटीभूत हुए हैं। इसके बाद इस—यात्री हृदय—ने अनेक प्रकार से और मन की भिन्न-भिन्न स्थितियों में क्रमशः जगत से परिचय प्राप्त किया और उससे

स्नेह संबंध जोड़ा है। सदा परिवर्तनशील वस्तुओं की असंख्य सीढ़ियों पर चढ़ जाने के बाद अन्त में यह यात्री अपरिमित तक जा पहुँचेगा। इसे अनिश्चितता की अस्पष्टता न कहकर पूर्ण सत्य में मिल जाना ही कहना उचित होगा।

मैं अपनी बहुत ही छोटी अवस्था में बिल्कुल सीधी-सादी तौर पर और प्रेमपूर्वक सृष्टि से बातचीत किया करता था। उससे मैंने मैत्री कर ली थी, जिसके आनन्द का मुझे बहुत ही अनुभव हुआ है। मुझे अपने बगीचे के नारियल के प्रत्येक वृक्ष भिन्न-भिन्न व्यक्ति के समान प्रतीत होते थे। नार्मल स्कूल से जब मैं शाम को लौटकर आता और गाड़ी पर आता, तब आकाश में नीले और काले रंग के अभ्र (बादल) देखते ही मेरा मन किसप्रकार बेहोश हो जाया करता था, यह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है प्रतिदिन प्रातःकाल जग कर ज्योंही मैं आँख खोलता। त्योंही मुझे मालूम होता कि प्रेम से जागृत करने वाला जगत खेल में अपना साथी बनाने के लिये मुझे बुला रहा है।

दोपहर का तप्त आकाश, विश्राम के प्रशांत समय में उद्योग निमग्न जगत से उठाकर मुझे किसी दूरस्थ तपोभूमि में ले जाता था। और रात्रि का निबिड़ अंधकार गहन रास्ते के द्वारा खोलकर सात समुद्र तेरह नदी को पारकर सम्पूर्ण शक्य-अशक्य बातों को पीछे छोड़ते हुए हमें अपनी ठेठ आत्मभूमि में ले जाया करता था।

आगे जाकर तारुण्य का प्रभातकाल उदय हुआ। मेरा तृषित हृदय क्षुधा से व्याकुल होकर रोने लगा। तब बाहर बाग के इस खेल में एकाएक विघ्न उपस्थित हो गया। मेरा 'जीवन सर्वस्व' इसी हृदय के चारों ओर चक्कर मारने लगा। उसमें

भँवर उठने लगे और अन्त में अपने 'जीवन सर्वस्व' का ज्ञान उनमें विलीन हो गया, डूब गया। दुखी होकर हृदय अपना अधिकार जमाने लगा। अन्तर्बाह्य की विषमता बढ़ने लगी। उससे अभी तक जो सृष्टि पदार्थों से हिल-मिल कर बातचीत किया करती थी, वह बन्द हो और इससे मुझे जो दुःख हुआ उस दुःख का मैंने 'संध्या-संगीत' में वर्णन किया है। आगे जाकर 'प्रभात संगीत' में इस विघ्न की किलेबन्दी को तोड़ा है। इसे तोड़ने के लिए हमें किस वस्तु से उसपर आघात करना पड़ा, यह हमें विदित नहीं है। परन्तु विघ्न की किलेबन्दी के टूटने से मेरी खोई चीज हमें फिर मिली। उस वस्तु का लाभ हमें केवल पूर्ण परिचित स्वरूप में ही नहीं हुआ, किन्तु संध्याकालीन वियोग के कारण अधिक गम्भीर और पूर्ण परिणत स्थिति मुझे उसका लाभ हुआ।

इस प्रकार मेरे जीवन रूपी पुस्तक के पहले भाग की समाप्ति मानी जा सकती है। इस भाग में संयोग-वियोग और पुनः संयोग इसप्रकार से तीन खंड हैं। परन्तु वस्तुस्थिति के अनुसार यही कहना अधिक सुसंगत होगा कि इस पुस्तक के पहिले भाग का अभी तक अन्त होना बाकी है, यही विषय आगे भी चालू रखना पड़ता है। उसकी उलझनें सुलझानी पड़ती हैं। उनका सन्तोषकारक अन्त करना पड़ता है। मुझे तो यह मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन रूपी पुस्तक का एक भाग ही समाप्त करने के लिये जगत में अवतरित हुआ करता है।

'संध्या संगीत' के रचनाकाल में लिखे हुए गद्य लेख 'विविध प्रबन्ध' के नाम से प्रकाशित हुए और 'प्रभात संगीत' के रचनाकाल में लिखे हुए गद्य लेख 'आलोचना' के नाम से। इन दोनों

गद्य-लेख-मालाओं की विशिष्ट लक्षणा में जो अन्तर है, वह अन्तर इन दोनों संगीतों के रचनाकाल के मध्य में मेरे में जो-जो परिवर्तन हुए उनका स्पष्ट निदर्शक है।

३४

राजेन्द्रलाल मित्र

इन्हीं दिनों में मेरे भाई ज्योतिरींद्र के मन में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान लोगों की विद्वत्परिषद् स्थापित करने की कल्पना उठी। बँगला भाषा में अधिकारयुक्त वाणी से पारिभाषिक शब्द निश्चित करना तथा दूसरे मार्गों से इस भाषा की उन्नति करना, ये दो इस परिषद् के मुख्य ध्येय थे। वर्तमान बंग साहित्य-परिषद् जिस रूप से काम कर रही है, हमारी परिषद् का ध्येय उससे कुछ भिन्न था।

डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र को भी यह कल्पना बहुत अच्छी मालूम हुई और बड़े उत्साह के साथ उन्होंने इस कल्पना का स्वागत किया। इस परिषद् के अल्प जीवनकाल में वे ही उसके सभापति भी थे। हमारी इस परिषद् के सभासद होने के लिये प्रार्थना करने के अर्थ मैं श्री विद्यासागर के पास गया और परिषद् के उद्देश्य तथा आज तक बने हुए सभासदों की नामावली मैंने उन्हें पढ़कर सुनाई। मेरा कथन ध्यानपूर्वक सुनकर

उन्होंने मुझसे कहा कि यदि तुम मेरा कहना मानों, तो मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम हमलोगों को छोड़ो। बड़े-बड़े पत्थरों को परिषद् में रखकर तुम कुछ भी न कर सकोगे। क्योंकि वे लोग न तो कभी एक मत होंगे और न उनका परस्पर में कभी प्रेम ही होगा। ऐसा उपदेश देकर सभासद बनना अस्वीकार कर दिया। बंकिम बाबू सभासद हो गए; परन्तु उन्होंने कभी परिषद् के काम में विशेष लक्ष्य नहीं दिया और न कभी उत्साह ही बतलाया।

सच बात तो यह है कि जब तक परिषद् चलती रही, तब तक राजेन्द्रलाल मित्र ही अकेले उसका सब काम उत्तरदायित्व-पूर्ण रीति से किया करते थे। हमने भूगोल-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों के निर्णय करने का काम पहले-पहल हाथ में लिया। इन शब्दों की सूची को डॉ० राजेन्द्रलाल ने स्वयं तैयार की और फिर छपवाकर सब सभासदों के पास भेजी। हमारी एक यह भी कल्पना थी कि देशों के नाम, वहाँ के रहनेवाले जिस प्रकार उच्चारण करते हैं, बँगला में उसीप्रकार लिखे जाँय।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का कहा हुआ भविष्य ठीक उतरा। बड़े आदमियों के द्वारा कोई भी काम इस परिषद् का न हो सका और ज्योंही अंकुर फूटने के बाद पत्ते निकलने का समय आया, त्योंही परिषद् का जीवन भी समाप्त हो गया। डॉ० राजेन्द्र सब बातों में निष्णात थे। प्रत्येक बात में वे तत्वज्ञ थे। उस परिषद् के कारण ही राजेन्द्र बाबू से परिचय होने का अलभ्य लाभ मुझे प्राप्त हुआ और इस लाभ से परिषद् में किए हुए परिश्रम को मैंने सफल समझा। मुझे अपने जीवन में बहुत से बंगाली विद्वानों की मुलाकात का अवसर मिला है। परन्तु

राजेन्द्रलाल मित्र के समान अपनी चतुराई की छाप मुझपर कोई न जमा सका।

माणिकटोला में कोर्ट आफ वार्ड्स के दफ्तर में जाकर मैं उनसे मिला करता था। जब-जब मैं जाता, उन्हें लेखन-वाचन व्यवसाय में मैं व्यस्त पाता था। अपनी युवावस्था सम्बन्धी उद्धता के कारण उनका अमूल्य समय लेने में मैं बिलकुल ही नहीं हिचकिचाता था और न कभी मुझसे मिलने में उन्हें दुःखी होता देखता ही था। मुझे आता हुआ देखकर वे अपना काम एक ओर रख देते थे और मुझसे बातचीत करने लगते थे। वे जरा सुनते कम थे, इसलिये मुझे पूछने का वे बहुत ही कम अवसर देते थे। वे कोई गंभीर विषय को उठाते और उसी की चर्चा तथा ऊहा-पोह किया करते थे। उनके मिष्ट और विद्वता-पूर्ण सम्भाषण से आकर्षित होकर ही मैं उनके पास जाया करता था। दूसरे किसी भी मनुष्य के सम्भाषण में भिन्न-भिन्न विषयों पर इतने गम्भीर विचारों का समद्द मुझे प्राप्त नहीं हुआ। उनके सम्भाषण की मोहिनी से आनन्दित होकर मैं उनका कहना सुना करता था।

पाठ्य-पुस्तकों का निर्णय करनेवाली समिति के वे एक सभासद थे, ऐसा मुझे स्मरण है। जाँच-पड़ताल के लिये उनके पास जो पुस्तकें आती, उन्हें वे पूरी पढ़ते और फिर पेन्सिल से निशान और टिप्पणी लिखा करते थे। कभी-कभी वे इन्हीं पुस्तकों में से किसी पुस्तक पर मुझसे चर्चा भी करते। चर्चा का विषय मुख्यतः बँगला की रचना और भाषा शास्त्र होता था। इन विषयों के सम्बन्ध में मित्र बाबू के सम्भाषण से मुझे बहुत लाभ हुआ। ऐसे बहुत ही थोड़े विषय थे जिनका उन्होंने परिश्रमपूर्वक अध्ययन नहीं किया हो। वे जिस विषय का

परिश्रमपूर्वक अध्ययन करते, उसको विषद करने की बड़ी अच्छी कला उन्हें प्राप्त थी।

हमने जो परिषद् स्थापित करने का प्रयत्न किया था, उसके कामों के लिये दूसरे सभासदों पर अवलम्बित न रहकर यदि राजेन्द्र बाबू पर ही सब काम छोड़ दिया जाता, तो आज साहित्य परिषद् ने जो काम हाथ में ले रखे हैं, वे सब उस एक ही व्यक्ति के कारण बहुत उन्नत अवस्था में पहुँचे हुए साहित्य परिषद् को मिलते।

राजेन्द्रलाल पंडित थे और व्युत्पन्न थे। उनके शरीर का गठन भी भव्य था। चेहरे पर एक प्रकार का विलक्षण तेज था। सार्वजनिक व्यवहार में बड़े प्रखर थे, परन्तु अपनी विद्वत्ता के अभिमान का कभी प्रदर्शन नहीं होने देते थे और मेरे जैसे छोकरे से भी गहन विषयों पर चर्चा करने में कभी अपनी मानहानि नहीं समझते थे। अपने बड़प्पन का खयाल न कर मुझसे व्यवहार करते। इस व्यवहार का मैंने उपयोग भी किया और अपने पत्र 'भारती' के लिये उनसे लेख भी लिखाया। उनके समय में उनकी ही अवस्था के बहुत-से बड़े-बड़े आदमी थे, परन्तु उनसे परिचय करने में मुझे कभी साहस नहीं हो पाता और यदि हो भी जाता तो राजेन्द्र बाबू के समान मुझे उनसे प्रोत्साहन कभी नहीं मिलता।

जब वे म्युनिसिपल कारपोरेशन और युनिवर्सिटी सिनेट के चुनाव में खड़े होते, तब प्रतिस्पर्धी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगतीं और भय से उसकी छाती धड़कने तक लगती थी। उस समय 'कृष्णदास पाल' चतुर मुत्सद्दी थे और राजेन्द्रलाल मित्र रणशूर योद्धा।

'रायल एशियाटिक सोसायटी' पुस्तकों का संशोधन और

प्रकाशन किया करती थी। इस कार्य के लिये केवल शारीरिक परिश्रम करनेवाले कई संस्कृत पंडित नियत करने पड़ते थे। इस कारण कई क्षुद्र-बुद्धि के ईर्षालु लोग, मित्र बाबू पर यह आरोप किया करते थे कि संशोधन का सब काम पंडितों से करवाकर राजेन्द्रलाल स्वतः श्रेय लेने को तैयार रहते हैं।

किसी काम की जवाबदारी सिर पर उठाकर उसकी सिद्धि का श्रेय लेनेवाले लोगों को केवल मंदिर की प्रतिमा समझनेवाले व्यक्ति कई बार समाज में दिखलाई पड़ते हैं। ऊपर कहे हुए लोग भी इसी श्रेणी के थे। शायद गरीब बेचारी लेखनी को भी यदि वाणी होती, तो अपने भाग्य में काली स्याही और लेखक के भाग्य में कीर्ति की शुभ्र पताका देखकर खेद प्रकट करने का प्रसङ्ग आया होता।

आश्चर्य है कि मृत्यु के बाद भी इस असमान्य व्यक्ति को उसके देशवासियों की ओर से जैसा चाहिए, आदर नहीं मिला। संभव है इसका एक कारण यह भी हो कि इनकी मृत्यु के थोड़े दिनों बाद ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की मृत्यु हुई थी और उससे सारा देश शोकमग्न हो गया था। इस कारण देश को राजेन्द्रलाल के प्रति आदर व्यक्त करने का अवसर ही न मिला हो। दूसरा भी एक कारण हो सकता है कि इनके सब लेख प्रायः दूसरी भाषाओं में होने के कारण उनका साहित्य लोकभोग्य से जैसा चाहिए नहीं हो सका हो।

३५

कारवार

कलकत्ते के सदर रास्ते पर रहना छोड़कर फिर हम सब लोग समुद्र के पश्चिम किनारे के 'कारवार' शहर में रहने को चले गए। बम्बई प्रान्त के दक्षिणी विभाग में कनड़ा जिले का यह शहर मुख्य स्थान है। संस्कृत साहित्य में मलय पर्वत के बीच के जिस प्रदेश का बार-बार उल्लेख हुआ है, उसी का यह भी एक भाग है। यहाँ वेलादोना की बेलें और चन्दन के वृक्ष बहुतायत से पाए जाते हैं। उन दिनों मेरे बड़े भाई वहाँ न्यायाधीश थे।

इस छोटे से बन्दर को टेकरियों ने घेर रखा है। यह बन्दर ऐसे कोने में और ऐसे एकांत स्थान में है कि वहाँ बन्दर होने का कोई चिन्ह तक नहीं दीखता। अर्द्धचन्द्राकृति का तट ऐसा मालूम होता है मानों उसने समुद्र में अपनी भुजाएँ ही फैला रखी हों। इस बालुकामय विस्तीर्ण तट पर नारियल, ताड़ी आदि के वृक्षों का अरण्य ऐसा मालूम होता है, मानों अनंत को बुलकारने के प्रयत्न में उत्सुक हों। इस अरण्य में काली नदी बहती है, जो इसी तट तक आकर समुद्र में मिल गई है। यह नदी समुद्र में मिलने के पहिले दोनों किनारों पर की टेकरियों के बीच में-से छोटे से पाट में बहती हुई आई है।

मुझे स्मरण है कि एक बार चाँदनी रात में हम लोग छोटी-सी नाव में बैठकर नदी के ऊपर की ओर गए थे। रास्ते में हमें शिवाजी का एक पहाड़ी किला भी मिला। उसके नीचे हम लोग रुके और किनारे पर उतरकर ज़रा आगे बढ़े। एक किसान का झाड़-भूड़कर साफ किया हुआ आँगन मिला। वहाँ एक जगह पसंद करके हमने अपने साथवाले खाने-पीने के समान पर हाथ साफ़ किया। लौटते समय नदी के प्रवाह के साथ-साथ हमने अपनी नाव छोड़ दी। सम्पूर्ण ऊधलायमान टेकरियों, अरण्यों और शांति से बहनेवाली काली नदी पर चन्द्र-प्रकाश रूपी जाल फेंककर रात्रि ने अपना शासन जमा रखा था।

नदी के मुँह तक जाने में हमें बहुत समय लगा। इसलिये समुद्र के रास्ते से न लौटकर हम वहीं नाव से उतर पड़े और फिर बालुकामय प्रदेश के स्थल-रास्ते से घर को लौटे। उस समय रात्रि बहुत बीत चुकी थी। समुद्र शान्त था। उसपर एक भी लहर नहीं उठती थी। सदा हवा से हिलकर आवाज करनेवाले झाड़ वृक्ष भी इस समय निस्तब्ध थे। विस्तृत बालुकामय प्रदेश के आजू बाजू की वृक्षराजी की छाया भी निश्चल थी और क्षितिज से मिली हुई काले रंग की टेकरियाँ वसुन्धरा में अकाश की छाया में शांत चित्त से निद्रा ले रही थीं।

इस सर्वत्र फैली हुई निस्तब्धता और स्फटिकवत् चंद्र-प्रकाश में हम मुट्ठी भर मनुष्य भी मुँह से एक शब्द भी न निकालते हुए चुपचाप चले आ रहे थे। हमारे साथ केवल हमारी छाया जरूर थी। हम घर पहुँचे और बिस्तरे पर पड़ रहे, परन्तु मुझे नींद ही नहीं आती थी। अपने से भी अधिक विशाल और गहन विषय में मेरी निद्रा शायद विलीन हो गई थी। उस समय मैंने एक कविता रची। वह कविता अति दूर स्थित समुद्र तट

की रात्रि से एकमेक हो गई है। जिस स्मृति ने उस काव्य की रचना की, मेरे पाठक उससे अपरिचित हैं। अतः कह नहीं सकता कि वह कविता मेरे पाठकों के हृदय से किस तरह भिड़ सकेगी। मोहित बाबू ने जो मेरे काव्यों का संग्रह प्रकाशित किया था, शायद इसी भय से उसमें भी इस कविता को उन्होंने स्थान नहीं दिया था। मैं अपनी 'जीवन-स्मृति' में उसे स्थान देना उचित समझता हूँ और पाठक भी ऐसा ही समझेंगे, ऐसी मुझे आशा है। (हिन्दी पाठकों को बंगला कविता का आनन्द न आने से यहाँ वह कविता नहीं दी गई है।)

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि भावनाओं से जब मन भर जाता है, तब लेखनी से कुछ बाहर निकल ही पड़ता है। परन्तु इतने ही कारण से वह लेखन उत्तम रीति का नहीं माना जा सकता। अपने जो कुछ लिखते और बोलते हैं, उसपर मनोविकारों की छटा फैली रहती है। प्रकट करने योग्य मनोभावनाओं से अलिप्त रहना कभी ठीक नहीं हो सकता। इसी तरह मनोभावनाओं में सर्वथा तल्लीन हो जाना भी अनुचित है। यह कवित्व के लिये पोषक नहीं हो सकता। कवित्व रूपी चित्र में रंग भरने के लिये स्मृति रूपी तूलिका कूची ही समर्थ है। मनोभावनाओं के निकट सान्निध्य से कल्पना जकड़ जाती है और उसपर दबाव आकर पड़ जाता है। मनोविकारों के बंधनों को तोड़कर उन्हें दूर किए बिना कल्पना शक्ति स्वतंत्रता-पूर्वक विहार नहीं कर सकती। यह नियम केवल काव्य-शक्ति को ही लागू नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक कला के लिये भी यही नियम है। कला-कुशल मनुष्य को प्रयत्न करके थोड़ी बहुत अलिप्तता प्राप्त कर लेना आवश्यक है। अपनी कला के सर्वसाधारण नियमों के गुलाम हो जाना उचित नहीं है।

३६

प्रकृति प्रतिशोध

'कारवार' में रहते हुए ही मैंने 'प्रकृति प्रतिशोध' नामक नाटिका लिखी। इसका नायक एक सन्यासी था। सम्पूर्ण कामनाओं और प्रेमोत्पादक वस्तुओं के बन्धन से मुक्त होकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के वह प्रयत्न में था। उसका विश्वास था कि मिथ्या जगत के बन्धनों को तोड़ने से आत्मा का वास्तविक रहस्य और ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस नाटिका की नायिका एक बालिका कुमारी थी। वह उस सन्यासी को फिर अपने पूर्वाश्रम में खींच लाई। अनन्त के साथवाले व्यवहार से उस सन्यासी को विमुख कर पुनः मानवी प्रेम-बन्धन और इस संसार में ला पटका। पूर्वाश्रम में लौट आने पर उस सन्यासी को मालूम पड़ा कि 'छोटे में ही बड़ा मिलेगा। साकार में अनन्त की निराकारता विलीन होती हुई दिखलाई पड़ेगी और आत्मा का नित्य स्वातन्त्र्य-प्रेम के मार्ग में प्राप्त होगा।' वास्तव में देखा जाय तो प्रेम के प्रकाश में ही संसार के बन्धन अनन्त में विलीन होते हुए अपने को दिखलाई पड़ेंगे।

सृष्टि का सौंदर्य कल्पना निर्मित मृगजल नहीं है। इसमें अनन्त का आनन्द पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस आनंद में तल्लीन होकर मनुष्य किसप्रकार अपने आपको भूल जाता है,

इसका अनुभव प्राप्त करने के लिये 'कारबार' का समुद्र तट एक योग्य स्थान है। जब सृष्टि अपने नियम रूपी जादू के द्वारा अपना परिचय कराती है, तब 'अनन्त' की अनंतता हमसे छिपी नहीं रह सकती। उस समय यदि सृष्टि के क्षुद्र पदार्थों के साथ सम्बन्ध होते ही उनके सौंदर्य से मन प्रसन्न हो जाय, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परिमित के सिंहासन पर विराजमान अनन्त का परिचय प्रकृति ने सन्यासी को प्रेम-मार्ग के द्वारा करवा दिया। 'प्रकृति प्रतिशोध' में दो प्रकार के, एक दूसरे से विरुद्ध, चित्र चित्रित किए गए हैं। एक ओर रास्ता चलनेवाले पथिक और गाँवों के लोगों का चित्र। दूसरी ओर ऊपर कहे हुए सन्यासी का। रास्ता चलनेवाले पथिक और ग्रामीण लोग किसप्रकार होते हैं, यह बात सब जानते ही हैं। वे अपने क्षुद्र काम में तल्लीन रहनेवाले और अपने घरेलू कामों के सिवा दूसरे कामों की रत्ती भर भी कल्पना जिन्हें नहीं है, ऐसे होते हैं। ये लोग भाग्य से प्राप्त परिस्थिति में सन्तोष मानते और अपने बाल-बच्चे, ढोर-ढाँक, खेती-बाड़ी, उद्योग-धंधे में ही व्यस्त रहते हैं। इसप्रकार सृष्टि पदार्थों से स्नेह रखकर उनमें आत्मभाव स्थापित करनेवाले इन लोगों का चित्र एक ओर और दूसरी ओर सर्व सङ्ग परित्याग करने में व्यस्त और अपनी ही कल्पना से उत्पन्न तथा पूर्णत्व प्राप्त अनन्तत्व के प्रति अपना सर्वस्व और अपने आपको अर्पण करने के लिये तत्पर सन्यासी का चित्र। इसप्रकार के एक दूसरे से विरुद्ध दो चित्र उस नाटिका में चित्रित किए थे। अन्त में जाकर नाटिका में यह दिखलाया गया है कि परिमित और अनन्त इन दोनों के बीच में रहे हुए अन्तर पर प्रेम-पुल बाँधा गया और उसके कारण आकस्मिक रीति से परिमित और अनन्त का सम्मेलन हो गया।

संन्यासी और गृहस्थी परस्पर में छाती-से-छाती लगाकर मिले। ऊपरी तौर पर दिखलाई पड़नेवाली परिमित की निस्सारता और अपरिमित की शुष्कता दोनों ही नष्ट हो गईं।

मेरे निज के अनुभव की भी प्रायः यही दशा है। केवल उसके स्वरूप में थोड़ा-सा अन्तर है। बाह्य जगत से सम्बन्ध तोड़कर जगत से अत्यन्त दूरी पर स्थित गहन गुफा में जाकर मैं बैठ गया। वहाँ इसी प्रकार का देह-भाव नष्ट करनेवाला किरण आ पहुँचा और उसने मुझे फिर जगत से मिला दिया। 'प्रकृति प्रतिशोध' नाटिका मेरे भविष्य जीवन के वांगमय व्यवसाय की प्रस्तावना ही थी। क्योंकि इसके आगे के मेरे सब लेखों में प्रायः इसी विषय की चर्चा हुई है। अर्थात् परिमित में अपरिमित खोजना और आनन्द प्राप्त करना ही इन लेखों का ध्येय रहा है।

'कारवार' से लौटते हुए रास्ते में जहाज पर 'प्रकृति प्रतिशोध' के लिये मैंने कुछ पद्य तैयार किए। पहला ही पद प्रथम मैंने गाया, फिर उसे लिख डाला। उस समय मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ।

उस गायन का भाव यह है कि—'सूर्य उदीयमान है। फूल फूल रहे हैं। ग्वालों के बालक गायों को चराने के लिये जा रहे हैं। वनश्री पूर्ण शोभायमान है, परन्तु ग्वाल बालों को, उससे आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा है और न वे गायों को चराते हुए छोड़कर मनमाने ढङ्ग से खेल ही रहे हैं। उन्हें इस समय अटपटा-सा मालूम होता है। मन में उदासी है। यह सब क्यों? इसलिये कि उनका साथी श्याम (कृष्ण) उनके बीच में नहीं है। उसके लिये उनका मन छटपटा रहा है। प्रकृति

के इस सौंदर्य में वे कृष्ण के रूप में अनन्त को देखना चाहते हैं। वे इतने सवेरे अनन्त के साथ खेल खेलने को उठे हैं। दूर से ही देखकर अथवा उसके प्रभाव से प्रभावित होकर अनन्त का गुणगान करना वे नहीं चाहते। न इस सम्बन्ध में उनके हृदय रूपी बही में कुछ 'जमा' 'नाम' ही है। उन्हें तो केवल एक सादा पीत-वस्त्र और वन-पुष्पों की माला की जरूरत है। इसी सादे रूप में वे अनन्त का दर्शन कर सकते हैं। जहाँ चारों ओर आनन्द का साम्राज्य फैला हुआ हो, वहाँ उसकी प्राप्ति के लिये परिश्रम करना अथवा बड़ी धूम-धाम से प्रयत्न करना उस आनन्द पर पानी फेरना है। वहाँ तो सीधे सादे रूप में ही उसका दर्शन हो सकता है और यही ग्वाल-बाल चाहते हैं।'

'कारबार' से लौटने पर मेरा विवाह हुआ। उस समय मेरी अवस्था बाईस वर्ष की थी।

३७

चित्र और गायन

इस समय मैंने जो कविताएँ लिखीं, उस पुस्तक का नाम 'छबी ओ गान' (चित्र और गायन) रखा था, उस समय हम लोअर सरक्यूलर रोड पर रहते थे। हमारे घर में एक बाग था

संन्यासी और गृहस्थी परस्पर में छाती-से-छाती लगाकर मिले। ऊपरी तौर पर दिखलाई पड़नेवाली परिमित की निस्सारता और अपरिमित की शुष्कता दोनों ही नष्ट हो गई।

मेरे निज के अनुभव की भी प्रायः यही दशा है। केवल उसके स्वरूप में थोड़ा-सा अन्तर है। बाह्य जगत से सम्बन्ध तोड़कर जगत से अत्यन्त दूरी पर स्थित गहन गुफा में जाकर मैं बैठ गया। वहाँ इसी प्रकार का देह-भाव नष्ट करनेवाला किरण आ पहुँचा और उसने मुझे फिर जगत से मिला दिया। 'प्रकृति प्रतिशोध' नाटिका मेरे भविष्य जीवन के वांगमय व्यवसाय की प्रस्तावना ही थी। क्योंकि इसके आगे के मेरे सब लेखों में प्रायः इसी विषय की चर्चा हुई है। अर्थात् परिमित में अपरिमित खोजना और आनन्द प्राप्त करना ही उन लेखों का ध्येय रहा है।

'कारवार' से लौटते हुए रास्ते में जहाज पर 'प्रकृति प्रतिशोध' के लिये मैंने कुछ पद्य तैयार किए। पहला ही पद प्रथम मैंने गाया, फिर उसे लिख डाला। उस समय मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ।

उस गायन का भाव यह है कि:—'सूर्य उदीयमान है। फूल फूल रहे हैं। ग्वालों के बालक गायों को चराने के लिये जा रहे हैं। वनश्री पूर्ण शोभायमान है, परन्तु ग्वाल-बालों को उससे आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा है और न वे गायों को चरते हुए छोड़कर मनमाने ढङ्ग से खेल ही रहे हैं। उन्हें इस समय अटपटा-सा मालूम होता है। मन में उदासी है। यह सब क्यों? इसलिये कि उनका साथी श्याम (कृष्ण) उनके बीच में नहीं है। उसके लिये उनका मन छटपटा रहा है। प्रकृति

शुरू में अभ्यास करते समय अपनी रंग की पेटी का लगातार उपयोग करते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने नूतन तारुण्य के विविध रंगों से सुसज्जित कल्पना-चित्रों को रंगने में दिन व्यतीत कर देता था। मेरी अवस्था के बाईसवें वर्ष के प्रकाश में यदि वे चित्र देखे जाँय, तो अभी भी उनका कुछ भाग अटपटी आकृति और पुछे-पुछाए रंग के रूप में दिखलाई पड़ेगा।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि कि मेरे साहित्यक जीवन का प्रथम भाग 'प्रभात संगीत' के साथ-साथ समाप्त हो गया था और उसके आगे के भाग में भी मैंने वही विषय दूसरे रूप में चालू रखा। मेरा यह विश्वास है कि इस भाग के कई पृष्ठ बिल्कुल ही निरुपयोगी हैं। किसी भी नए कार्य को प्रारम्भ करते समय कुछ बातें योंही-फिजूल करनी पड़ती हैं। यहीं यदि वृक्ष के पत्ते होते, तो उचित समय पर सूखकर झड़ जाते। परन्तु पुस्तकों के पत्ते तो ग्रंथकार के दुर्दैव से आवश्यकता न होते भी पुस्तक से चिपट कर लगे रहते हैं। इस कविता का मुख्य गुण यह था कि इसमें छोटी-से-छोटी बात पर भी ध्यान दिया गया था। ठेठ हृदय में उत्पन्न भावनाओं के रंग में इनमें तुच्छ बातों को रंङ्ग कर उन्हें महत्वपूर्ण बनाने का एक भी अवसर मैंने इस 'छबि ओ गान' नामक पद्य में नहीं खोया। इतना ही क्यों, जिस समय मन के तार की विश्व के गान के साथ एक तानता होती है, उस समय विश्व गायन का प्रत्येक नाद, प्रतिनाद उत्पन्न कर सकता है और इस प्रकार से अन्तरगान के प्रारम्भ होने पर फिर लेखक को कोई भी बात और कोई भी प्रसंग निरर्थक प्रतीत नहीं होता। जो-जो मैंने अपने नेत्रों से देखा, अन्तरङ्ग उस सबको स्वीकार करता गया। रेती, पत्थर, ईंट जो मिले उससे छोटे बालक खेलने लगते हैं। वे यह नहीं सोचते

और उसके दक्षिण की ओर एक बड़ी "बस्ती"* थी। मैं कई बार खिड़की में बैठकर इस गजगजाती हुई बस्ती के दृश्य देखा करता था। अपने-अपने काम में तल्लीन मनुष्य, उनके खेल, उनके विनोद, इधर-उधर आना, जाना आदि देखकर मुझे बड़ा आनंद प्राप्त होता और एक चलती-फिरती कथा का भास होता था।

किसी एक बात की ओर भिन्न-भिन्न दृष्टिबिंदुओं से देखने की शक्ति इस समय मुझमें विशेष रूप से आ गई थी। मैंने अपनी कल्पना के प्रकाश और हृदय के आनंद के द्वारा छोटे-छोटे चित्र बना डाले थे और प्रत्येक चित्र में उसकी विशेषता के अनुसार करुण रस के द्वारा एक दूसरे से भिन्न रंग भी भरे गए थे। इस प्रकार प्रत्येक चित्र को भिन्न-भिन्न रूप से सजाना, चित्र में रंग भरने के ही समान आनंद दायक था। क्योंकि दोनों कार्य एक ही इच्छा के फल थे। नेत्रों से जो दीखता है, उसे मन देखना चाहता है और जिसकी मन कल्पना करता है, उसे नेत्र देखना चाहते हैं, मैं यदि चित्रकार होता तो अपने मन के द्वारा बनाई हुई सम्पूर्ण कृतियों और सम्पूर्ण दृश्यों में कूँचों से रङ्ग भरकर उनका स्थाई स्मारक बना डालता। परन्तु मुझे यह साधन प्राप्त होने योग्य नहीं थे। मेरे पास तो ताल और स्वर ही साधन थे और इन साधनों से स्थायी ठप्पा उठाना भी मैं सीखा नहीं था। निश्चित मर्यादा से बाहर भी रंग फैल जाया करता था। परन्तु जिसप्रकार छोटे-छोटे लड़के चित्र-कला का

---

* जहाँ कवेलू से छाए हुए बहुत—घने घर होते हैं और बीच-बीच में छोटी-छोटी गलियाँ होती हैं, शहर के उस स्थान को यहाँ बस्ती कहा गया है। कलकत्ता में पहिले ऐसी बस्तियाँ बहुत थी।

आश्रम में रखूँ।' पीछे से मुझे मालूम पड़ा कि उस तरुण व्यक्ति के सिवा जो कुछ लिखा या कहा गया था, सब काल्पनिक था। बहिन काल्पनिक, सौतेली माता काल्पनिक और सब कुछ भी काल्पनिक। मालूम नहीं। उसे इतने झगड़े करने की क्या जरूरत पड़ी। अरे उड़ न सकनेवाले पक्षी के शिकार के लिये अमोघ अस्त्र चलाने की भला क्या जरूरत है?

दूसरी बार फिर इसी तरह का एक तरुण मनुष्य मेरे पास आया और कहने लगा कि मैं बी० ए० का अभ्यास करता हूँ, परन्तु मेरे मस्तिष्क में विकार हो जाने के कारण परीक्षा देने में असमर्थ हूँ। यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। वैद्यक शास्त्र में मेरी गति न होने के कारण मुझे यह नहीं सूझता था कि मैं इसे क्या उत्तर दूँ। कुछ समय बाद उसी ने कहा कि आपकी स्त्री पूर्वजन्म की मेरी माता है, ऐसा मुझे स्वप्न में दिखाई पड़ा है मुझे यदि उनका चरणामृत प्राशन करने को मिले तो मैं अच्छा हो जाऊँ। इस बात पर वह अपना विश्वास प्रकट करने लगा। जब उसने देखा कि मुझपर इसका कुछ भी परिणाम नहीं होता, तब अन्त में हँसते-हँसते उसने कहा कि सम्भवतः ऐसी बातों पर आपकी श्रद्धा नहीं होगी। मैंने उत्तर दिया कि इस बात का मेरी श्रद्धा से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु तुम्हें यदि यह विश्वास है कि इससे तुम्हें लाभ होगा, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम बैठो—कहकर मैंने अपनी स्त्री के पैरों का नकली चरणामृत लाकर दे दिया। प्राशन करने के बाद उसने कहा कि अब मेरी तबीयत ठीक मालूम होती है। पानी के बाद अन्न की स्वभावतः बारी आती ही है। यहाँ भी वही हुआ और भोजन की इच्छा प्रदर्शित कर वह मेरी कोठरी में जम गया। अन्त में उसकी धृष्टता यहाँ तक बढ़ गई कि वह मेरी कोठरी में

नहीं पड़ती। जीवन रूपी मार्ग के पथिकों के झुण्ड में मैं अब तक शामिल नहीं हुआ था। मैं तो इस मार्ग की ओर अपनी खिड़की में-से झाँक झाँककर देखनेवाला एक प्रेक्षक था। मुझे अपनी खिड़की में-से इधर-से-उधर अपने कामों के लिये आने-जानेवाले लोग दिखलाई पड़ते थे और मैं अकेला अपने कमरे में बैठा हुआ देखता रहता था। हाँ, बीच-बीच में वसन्त अथवा वर्षा ऋतु बिना परवाना लिये मेरे कमरे में घुस आते और कुछ समय तक मेरे ही पास रहते।

मुझसे न केवल ऋतुओं का ही सम्बन्ध होता था, किंतु कभी कभी समुद्र में भटकनेवाले लङ्गर विहीन जहाज के समान कितने ही लोग मेरी इस छोटी-सी कोठरी पर आक्रमण करते और उनमें-से कुछ लोग मेरी अनुभव हीनता से लाभ उठाकर और अनेक युक्ति-प्रयुक्तियाँ लड़ाकर अपना काम बना लेने का प्रयत्न भी किया करते थे। वास्तव में देखा जाय तो मेरे द्वारा अपना काम बना लेने के लिये उन्हें इतना परिश्रम करने की जरूरत भी न थी। क्योंकि एक तो मुझमें जैसी चाहिए गंभीरता न थी और दूसरे मैं भावुक व्यक्ति था। मेरी निज की जरूरतें बहुत ही थोड़ी थीं। मेरा रहन-सहन बिलकुल ही सादा था और विश्वस्त तथा अविश्वस्त लोगों को पहचान लेने की कला मुझे बिल्कुल ही मालूम न थी। कई बार मेरी यह समझ हो जाती थी कि मैं विद्यार्थियों को—जो फीस की सहायता देता हूँ—उसकी इन्हें उतनी ही जरूरत है, जितना कि उनकी पढ़ी हुई पुस्तकों की है।

एक बार एक लम्बे बालोंवाला तरुण अपनी बहिन का एक पत्र लेकर मेरे पास आया। उस पत्र में लिखा था कि 'इस तरुण की सौतेली माता इसे बहुत कष्ट देती है। अतः इसको मैं अपने

आश्रम में रखूँ ।' पीछे से मुझे मालूम पड़ा कि उस तरुण व्यक्ति के सिवा जो कुछ लिखा या कहा गया था, सब काल्पनिक था। बहिन काल्पनिक, सौतेली माता काल्पनिक और सब कुछ भी काल्पनिक । मालूम नहीं । उसे इतने झगड़े करने की क्या जरूरत पड़ी। अरे उड़ न सकनेवाले पक्षी के शिकार के लिये अमोघ अस्त्र चलाने की भला क्या जरूरत है ?

दूसरी बार फिर इसी तरह का एक तरुण मनुष्य मेरे पास आया और कहने लगा कि मैं बी० ए० का अभ्यास करता हूँ, परन्तु मेरे मस्तिष्क में विकार हो जाने के कारण परीक्षा देने में असमर्थ हूँ। यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। वैद्यक शास्त्र में मेरी गति न होने के कारण मुझे यह नहीं सूझता था कि मैं इसे क्या उत्तर दूँ। कुछ समय बाद उसी ने कहा कि आपकी स्त्री पूर्वजन्म की मेरी माता है, ऐसा मुझे स्वप्न में दिखाई पड़ा है मुझे यदि उनका चरणामृत प्राशन करने को मिले तो मैं अच्छा हो जाऊँ। इस बात पर वह अपना विश्वास प्रकट करने लगा। जब उसने देखा कि मुझपर इसका कुछ भी परिणाम नहीं होता, तब अन्त में हँसते-हँसते उसने कहा कि सम्भवतः ऐसी बातों पर आपकी श्रद्धा नहीं होगी। मैंने उत्तर दिया कि इस बात का मेरी श्रद्धा से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु तुझे यदि यह विश्वास है कि इससे तुम्हें लाभ होगा, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम बैठो-कहकर मैंने अपनी स्त्री के पैरों का नकली चरणामृत लाकर दे दिया। प्राशन करने के बाद उसने कहा कि अब मेरी तबीयत ठीक मालूम होती है। पानी के बाद अन्न की स्वभावतः बारी आती ही है। यहाँ भी वही हुआ और भोजन की इच्छा प्रदर्शित कर वह मेरी कोठरी में जम गया। अन्त में उसकी धृष्टता यहाँ तक बढ़ गई कि वह मेरी कोठरी में

ही रहने लगा और अपने सगे-संबंधियों को इकट्ठा कर धूम्रपान के सम्मेलन भरने लगा। अन्त में धूम्र से भरी हुई उस कोठरी में-से मुझे ही भागना पड़ा। उसने अपने कार्यों से निःसंशय यह तो सिद्ध कर दिया कि उसका मस्तिष्क विकृति हो गया है, परन्तु उसका मस्तिष्क निर्बल अवश्य नहीं था।

इस अनुभव ने उस तरुण के मेरे पुत्र होने के सम्बन्ध में मेरा पूर्ण विश्वास करा दिया। इस घटना से मैं समझता हूँ कि मेरी कीर्ति भी बहुत फैल गई थी। तभी तो कुछ दिनों बाद मुझे फिर एक लड़की का (मेरी स्त्री के पूर्वजन्म की लड़की का) एक पत्र मिला। परन्तु इस बार तो मैंने चित्त दृढ़ करके शान्ति के साथ इस बात को टाल ही दी।

इन दिनों बाबू श्रीशचन्द्र मजूमदार से मेरा स्नेह-संबंध शीघ्रता से बढ़ रहा था। प्रतिदिन शाम को प्रिय बाबू और श्रीशचन्द्र मजूमदार मेरे पास इस छोटी-सी कोठरी में आते और हम तीनों बहुत रात बीते तक साहित्य और संगीत पर मनमानी चर्चा भी किया करते। कई बार तो इसप्रकार के वाद-विवाद में दिन-दिन भर लग जाता था। बात यह है कि इस समय तक मेरे जीवन की कोई रूपरेखा ही नहीं बनी थी, इस समय तक मेरे जीवन की रूपरेखा नहीं थी, इस कारण उसे निश्चित और बलवान स्वरूप भी प्राप्त नहीं हुआ था। यही कारण है कि मेरा जीवन शरदकाल के निरुद्देश्य और हलके मेघों के समान मारा-मारा फिरता था।

बंकिमचन्द्र

इन्हीं दिनों बंकिम बाबू के साथ मेरा परिचय होना प्रारम्भ हुआ। यों तो मैंने उन्हें कई दिनों पहिले ही देख लिया था। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विद्यार्थियों ने अपना एक सम्मेलन करने का विचार किया था। इसके एक अगुआ बाबू चन्द्रनाथ बसु भी थे। आगे-पीछे मुझे भी उन्हीं में का एक होने का अवसर प्राप्त होगा—संभवतः ऐसा उन्हें मालूम हुआ-होने के के कारण अथवा दूसरे कोई कारण से उन्होंने एक अवसर पर अपनी कविता पढ़ने के लिए मुझसे निवेदन किया। चन्द्रनाथ बाबू उस समय बिल्कुल नवयुवक थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि शायद उन्होंने एक जर्मन युद्ध-गीत का अङ्गरेजी में अनुवाद किया था और उसे वे उक्त सम्मेलन में पढ़कर सुनानेवाले थे। इसकी तालीम के लिये वे हमारे यहाँ आए और बड़े उत्साह के साथ उन्होंने वह गीत हमें बार-बार सुनाया। एक सैनिक के, अपनी प्यारी तलवार को उद्दिष्ट करके रचे हुए गीत में चन्द्रनाथ बाबू को तल्लीन होते देखकर पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि चन्द्रनाथ बाबू तरुण थे और तारुण्य के उत्साह ने उनपर अधिकार भी जमा रखा था। इसके सिवा सचमुच वे दिन भी कुछ दूसरे ही प्रकार के थे। विद्यार्थी सम्मेलन की भीड़-भाड़ में

इधर-उधर फिरते-फिरते मुझे एक विशेष व्यक्ति दिखलाई पड़ा। यहाँ एकत्रित मनुष्यों में अथवा दूसरी भी जगह यह व्यक्ति छिप नहीं सकता था। वह तो तुरन्त ही आँखों में भर जाता था। क्योंकि वह भव्य, ऊंचा और अच्छे गठनवाला था। उसका तेजःपुंज प्रभावशाली चेहरा देखकर उसके विषय में मैं अपनी जिज्ञासा तृप्त किये बिना न रह सका। जिसका नाम जानने को मुझे इतनी छटपटाहट थी, वह बंकिम बाबू हैं, ऐसा जब मुझे मालूम हुआ, तब मेरे आश्चर्य की सीमा ही न रही। लेखन के समान उनकी आकृति का भी सतेज और उठावदार होना यह एक चमत्कारिक और अनुभूत संयोग था। उनकी वह सरल और गरुड़ के समान नासिका, दबे हुए होंठ और तीक्ष्ण दृष्टि, यह सब उनकी मर्यादा रहित शक्ति के द्योतक थे। अपनी छाती पर भुजाओं को मिलाकर उस भीड़ में उन्हें अकेले फिरते हुए देखकर मैं उनके प्रति तल्लीन हो गया। उत्कृष्ट बुद्धमत्ता का वह एक बड़ा-सा संग्रह दिखलाई पड़ता था और उच्च श्रेणी के मनुष्यत्व के चिन्ह उनके मस्तिष्क पर स्पष्ट दिखलाई पड़ रहे थे।

इस सम्मेलन के अवसर पर एक ऐसी छोटी-सी बात हुई, जिसका चित्र मेरे स्मृति पटल पर स्वच्छ रूप से अपड़ आया है। वह यह कि एक दालान में एक पंडितजी अपनी बनाई हुई संस्कृत कवितायें श्रोता जनों को सुना रहे थे और बंगला भाषा में उनका भाव समझाते जाते थे। उनमें एक उल्लेख ऐसा आया जो यद्यपि अत्यन्त बीभत्स तो नहीं था, परन्तु घृणित जरूर था। जब पंडितजी उस उल्लेख का भाष्य करने लगे तब बंकिम बाबू अपने हाथों से अपना मुंह ढाँककर वहाँ से चले गये, मैं दरवाजे पर खड़ा हुआ यह सब देख रहा था। अभी

भी दालान से निकलती हुई उस समय की उनकी रोमांचित मूर्ति मेरे नेत्रों के आगे खड़ी हो जाती है।

इस सम्मेलन के बाद उनके दर्शनों के लिये मैं अत्यन्त उत्सुक हो गया। परन्तु उनसे मिलने का अवसर पुनः नहीं मिला। अन्त में एक बार जब वे हवड़ा में डिपुटी मजिस्ट्रेट थे, मैं बड़ी धृष्टतापूर्वक उनके पास गया। मुलाकात हुई और बड़े प्रयत्नों से उनके साथ बातचीत करने का मुझे साहस हुआ। विना बुलाए, विना किसी के द्वारा परिचय हुए इतने बड़े मनुष्य से अपने आप मिलने जाना उच्छृङ्खल तरुण का ही काम हो सकता है, ऐसा जानकर मुझे बड़ी लज्जा मालूम होने लगी।

कुछ वर्ष बाद मैं थोड़ा बड़ा हो गया, तब मेरी गणना साहित्य भक्तों में—छोटी अवस्था का साहित्यभक्त—इस दृष्टि से होने लगी। गुण की दृष्टि से तो मेरा नम्बर अभी भी निश्चित नहीं था। मेरी जो थोड़ी-बहुत कीर्ति फैली थी, उसके सम्बन्ध में यह मत था कि उसका कारण प्रायः संशय और लोगों की कृपा है। उस समय बङ्गाल में यह रिवाज हो गया था कि अपने यहाँ के प्रसिद्ध कवियों को पाश्चात्य कवियों का नाम दिया जाय। इस रीति से एक कवि बङ्गाल का 'बायरन' हुआ। दूसरा 'इमर्सन' माना जाने लगा। किसी को 'वर्डस्वर्थ' बनाया और कुछ लोग मुझे 'शैले' कहने लगे। वास्तव में यह 'शैले' का अपमान था और मेरी डबल हँसी का कारण।

मेरा छोटा-सा सर्वमान्य नाम था 'तोतला कवि'। मेरा ज्ञान संचय बहुत ही थोड़ा था और जगत का अनुभव तो नाम-मात्र को भी नहीं। मेरे गद्य-पद्य लेखों में तत्वार्थ की अपेक्षा भावनाओं को ही अधिक स्थान प्राप्त थे। इसका यह परिणाम

होता कि मेरे लेखों में मन को सन्तोषकारक स्तुति करने योग्य कोई बात किसी को नहीं मिलती। मेरी पोशाक और चाल-ढाल भी विसंगत थी। लम्बे लम्बे बाल मैंने रखाए थे। सारांश यह कि 'कवि' को शोभा देने योग्य मेरी चाल-ढाल नहीं थी। एक शब्द में मेरा वर्णन किया जाय, तो वह शब्द 'विक्षिप्त' हो सकता है। साधारण मनुष्य के समान दैनिक सांसारिक व्यवहारों से मेरा मिलान होना कठिन था।

इन्हीं दिनों बाबू अक्षय सरकार ने 'नव-जीव' नामक समालोचना-सम्बन्धी मासिकपत्र प्रकाशित करना शुरू किया। मैं भी इसमें बीच-बीच में लेख दिया करता था। बंकिम बाबू ने बंग-दर्शन का सम्पादकत्व अभी छोड़ा ही था। वे धार्मिक चर्चा में लग गए थे और इसके लिये 'प्रचार' नामक मासिक पत्र निकाला था। इसमें भी मैं कभी-कभी कविता भेजा करता था और कभी वैष्णव कवियों की स्तुति से भरे हुए लेख भी भेजता रहता था।

अब मैं बंकिम बाबू से बार-बार मिलने लगा। उन दिनों वे भवानीदत्त स्ट्रीट में रहते थे। यद्यपि मैं उनसे बार-बार मिलता जरूर था, परन्तु हमारा सम्भाषण आपस में बहुत ही कम होता था। उन दिनों मेरी अवस्था बोलने की नहीं, सिर्फ सुनने के योग्य थी। यद्यपि वाद-विवाद करने की मुझे इच्छा तथा उत्कंठा होती और वाद-विवाद शुरू करने के लिये मैं छटपटाने भी लगता, परन्तु अपने सामर्थ्य का अविश्वास मेरी बोलती बन्द कर दिया करता था। कभी-कभी संजीव बाबू (बङ्किम बाबू के एक भ्राता) तकिए से टिककर वहाँ लेटे हुए मुझे मिलते उन्हें देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता। क्योंकि वे बड़े आनन्दी जीव थे। बातचीत से उन्हें बहुत ही आनन्द होता। उनका बातचीत

विनोद प्रचुर हुआ करती। जिन्होंने उनके लेख पढ़े होंगे, उन्हें उनके सीधे-सादे सम्भाषण के समान उनका लेखन-प्रवाह भी सहज, सरल और शांत दिखलाई पड़ा होगा। भाषण शक्ति की यह देन बहुत थोड़े लोगों को प्राप्त होती है और लेखों में भी उस शक्ति का स्पष्टीकरण करने की योग्यता तो उससे भी थोड़े लोगों में ही।

इसी समय पं० शशिधर की प्रसिद्धि होने लगी। यदि स्मरण शक्ति ठीक है तो मैं कह सकता हूँ कि बंकिम बाबू ही उन्हें सामने लाए। वे पाश्चात्य शास्त्रों की सहायता से अपने लुप्तप्राय महत्व को पुनः प्रस्थापित करने के पुराण मतवादी हिन्दुओं के प्रयत्न-कर्ताओं में-से थे। वे प्रयत्न सम्पूर्ण देश में शीघ्रता के साथ फैल गए। इसके पहिले से थियासफी इस आन्दोलन की पूर्व तैयारी कर ही रही थी। बंकिमबाबू का इस ध्येय से पूर्णतः तदात्म्य नहीं हुए थे। बङ्किमबाबू हिन्दू-धर्म पर 'प्रचार' में जो-लेख लिखते, उसपर पं० शशिधर की नाममात्र भी छाया नहीं पड़ती थी और न ऐसा होना संभवनीय ही था।

मैं उस समय अपनी अज्ञान स्थिति में-से बाहर आ रहा था। इसका प्रमाण वाग्युद्ध में फेंके हुए मेरे बाण देंगे। इन बाणों में कुछ उपहासजनक काव्य थे, कुछ विनोदयुक्त प्रहसन और कुछ समाचार-पत्रों को भेजे हुए मेरे पत्र। इसप्रकार भावना के वन में-से निकलकर मैं अखाड़े में उतर पड़ा और युद्ध के जोश में आकर बङ्किम बाबू पर टूट पड़ा। इस घटना का इतिहास 'प्रचार' और 'भारती' में सन्निबद्ध है। अतएव उसकी पुनरुक्ति करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। इस वाद-विवाद के अन्त में बङ्किम बाबू ने मुझे एक पत्र लिखा। दुर्दैव

से वह पत्र कहीं खो गया। यदि वह पत्र आज उपलब्ध होता, तो पाठक उससे भली-भाँति यह जान सकते कि बङ्किम बाबू ने अपने उदार-अन्तःकरण में-से इस दुर्दैवी घटना की शल्य किस प्रकार निकाल डाली थी ?

४०

निकम्मी जहाज

किसी समाचार-पत्र में विज्ञापन पढ़कर मेरे भाई ज्योतिरींद्र एक नीलाम में गए। वहाँ से शाम को लौटने पर उन्होंने हम लोगों से कहा कि मैंने नीलाम में सात हजार रुपयों में एक फौलादी जहाज खरीदा है। जहाज था तो अच्छा, परन्तु उसमें न तो इञ्जिन था और न कमरे। उस जहाज को सर्वाङ्ग परिपूर्ण करने के लिये सिर्फ उक्त बातों की ही जरूरत थी।

संभवतः उस समय मेरे इस भाई को यह मालूम हुआ होगा कि अपने देशबन्धु केवल मुँह से बड़बड़ानेवाले हैं। मुँह और लेखनी को जोर-शोर के साथ चलाने के सिवा उनसे और कोई काम नहीं होता। एक भी जहाजी कम्पनी भारतीयों के हाथ में न होने से उन्हें बड़ी लज्जा प्रतीत हुई होगी। मैं पहले कह आया हूँ कि उन्होंने एक बार आग काँड़ी (दियासलाई) तैयार करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनकी सलाइयाँ सुलगती ही न थीं,

इसी तरह भाफ से चलनेवाला करघा खरीदा। उसपर भी कपड़ा बुनने का खूब प्रयत्न किया, परन्तु सफलता नहीं मिली। जैसे-तैसे उसपर एक टाविल ही तैयार हो पाया और फिर वह सदा के लिये बन्द हो गया। इस बार उनके मस्तिष्क में देशी जहाज चलाने की धुन पैदा हुई और ऊपर कहे अनुसार वे जहाज खरीद लाए। आगे जाकर क्रमशः आवश्यक यंत्र उसमें लगाए और कमरे भी बनाए गए। वह जहाज, यंत्र, कमरे आदि उपकरणों से भर गई और कालान्तर में हानि और विनाश से भी वह खूब भरी।

इतना होने पर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रयत्न का कष्ट और हानि मेरे भाई को ही उठाना पड़ा, परन्तु उस अनुभव का लाभ देश के उपयोग में आया। वास्तव में व्यापारी-बुद्धि-विहीन, व्यवहार में हिसाबी पद्धति न रखनेवाले और देश-हित की चिंता से छटपटा कर काम में लग जानेवाले व्यक्ति ही अपनी कार्यशक्ति से उद्योग-धंधे के क्षेत्रों को सदा भरते रहते हैं।

ऐसे लोगों को कार्यों का पूर जितनी जल्दी आता है, उतनी ही जल्दी वह उतर भी जाता है। परन्तु पूर के साथ-साथ जमीन को कसदार बनानेवाली मिट्टी का जो प्रवाह वहकर आता है, वह पूर उतर जाने पर भी बच रहता ही है। झाड़-झंगड़ काट-कूट कर जमीन को तैयार करनेवाले का परिश्रम पीक (फसल) पैदा करते समय किसी के भी ध्यान में नहीं आता। नवीन खोज करनेवाले को जो परिश्रम, शक्ति और धन का खर्च करना पड़ता है, यहाँ तक कि उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है, उसका लाभ उसे नहीं मिलता। केवल उसका अनुभव ही बच रहता है, जिसका उपयोग आगे की पीढ़ी को होता है। कष्ट उठाकर

पूर्वजों द्वारा लगाए हुए वृक्षों के मधुर फल चखते समय फिर उन पूर्वजों का स्मरण तक न होना, यह एक तरह से उनका दुर्दैव ही है। जीवन पर्यन्त आनन्दपूर्वक जवाबदारी और धोखे के कार्यों को जो मनुष्य सिर पर लेते और उनको करते हुए अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, उनके परिश्रम से लाभ उठानेवाले लोग उन्हें ही भूल जाते हैं। कम-से-कम मृत्यु के बाद इसका उन्हें कष्ट नहीं होता, यह एक दुःख में सुख ही समझना चाहिए।

भाई ज्योतिरीन्द्र का प्रतिस्पर्धी बलवान था। एक ओर यह थे, दूसरी ओर यूरोपियन 'फ्लाटिला कम्पनी'। इन दोनों के व्यापारी जहाजों में कितना भारी संग्राम हुआ। यह बात खुलना और बरीसाल के लोग अब भी जानते और कहे सकते हैं। चढ़ा-ऊपरी के द्वन्द्व युद्ध में एक के बाद एक जहाज खरीदे जाने लगे। एक की हानि में दूसरे की हानि बढ़ी। इस प्रकार हानि रूपी इमारत के मञ्जिल-पर-मञ्जिल चढ़ने लगे। आगे जाकर तो ऐसा अवसर आया कि टिकिट छपाने लायक पैसे भी उनसे पैदा होना कठिन हो गया। खुलना और बरीसाल के बीच में चलनेवाले जहाजों की कम्पनियों का सुवर्ण युग शुरू हुआ। जहाजों में यात्री लोग मुफ्त बैठाए जाने लगे। इतना ही नहीं, जहाजों पर इनके भोजनादि की भी व्यवस्था बिना किसीप्रकार का चार्ज लिये होने लगी। जब इतने से भी काम नहीं चला, तब स्वयंसेवकों की सेना तैयार की गई। यह सेना हाथ में झंडा लेकर देशाभिमान के गीत गाते-गाते यात्रियों को जुलूस के साथ-साथ देशी जहाज पर ले जाने लगी। इतना होने से यात्रियों की तो कमी नहीं रही। हाँ, दूसरी सब बातों की कमी शीघ्रता के साथ बढ़ने लगी।

देशाभिमान की ज्योति जागृत रहने के कारण बेचारे व्यापारिक गणित को कहीं जगह ही नहीं रही। उत्साह की जाज्वल्यता अधिकाधिक बढ़ती गई और उसमें-से देशाभिमान-पूर्ण पदों का सुस्वर आलाप निकलने लगा। परन्तु गणित के हिसाब में इससे कुछ भी फर्क नहीं पड़ता था। वह तो अपने ही सिद्धांत के अनुसार चल रहा था। तीन बार तीन जोड़ने से नौ ही आते थे। हाँ, अन्तर इतना ही था कि इस जहाजी कम्पनी के हिसाब में यह जोड़ जमा की तरफ न आकर नाम की तरफ आता था। व्यापारी दृष्टि विहीन लोगों को सदा सतानेवाली बात यह है कि दूसरे लोग उन्हें अत्यन्त सुगमता से पहचान जाते हैं, पर वे दूसरों के स्वभाव को कभी नहीं पहचान पाते। अपने स्वभाव की इस न्यूनता को ढूंढ़ने में ही उनका जीवन और उनके साधन समाप्त हो जाते हैं और इस कारण वे अपने अनुभव का लाभ उठा नहीं पाते। अस्तु! इस जहाज पर यात्रियों को तो मुफ्त में भोजन मिलता ही था, पर साथ में कर्मचारियों को भी कभी भूखे रहने का अवसर नहीं आता था। हाँ, सबसे बड़ा लाभ मेरे भाई को हुआ, वह यह कि उन्होंने इस साहस में उठाई हुई हानि को शौर्यपूर्वक सहन की।

प्रतिदिन रणभूमि—जहाजी स्थान—के जय-पराजय के समाचारों से भरे हुए पत्र हमलोगों को अधीर करते थे। अन्त में एक ऐसा दुर्दिन आया जिस दिन हवड़ा के पुल से टकराकर हमारा जहाज जल-समाविस्थ हो गया। हानि की शिखर पर कलश चढ़ गया और इस कारण यह व्यापार बन्द करने के सिवा दूसरी गति ही न रही।

४१

इष्ट वियोग

इन्हीं दिनों में हमारे कुटुम्ब पर मृत्यु ने जो आक्रमण किया, उसके पहले मैंने किसी की भी मृत्यु होते नहीं देखी थी। जब मेरी माता का देहांत हुआ, उस समय मैं बहुत छोटा था। वह बहुत दिनों से बीमार थी। परन्तु हमें यहाँ तक मालूम नहीं पड़ा कि उसकी बीमारी कब बढ़ी। वह हमारे ही कमरे में दूसरे बिस्तरे पर सोया करती थी। मुझे याद है कि बीमारी में ही उसे एक बार नदी में नाव पर घुमाने के लिये ले गए थे और वहां से लौटने पर उसे तीसरे मंजिल के एक कमरे में रखा गया था।

जिस समय उसका देहावसान हुआ, हम नीचे की मंजिल के एक कमरे गाढ़ निद्रा में सो रहे थे। याद नहीं उस समय कितने बजे थे। हमारी बूढ़ी दाई माँ हुँकारा देती हुई उस समय हमलोगों के पास आई और कहने लगी 'अरे बच्चो! तुम्हारा सर्वस्व चला गया! अरे! दैव तूने यह कैसा घात किया!' उस भयंकर समय में हमें दुःख का धक्का न बैठने पावे, इसलिए मेरी भौजाई उसपर नाराज हुई और उसे दूसरी जगह ले गई। उसके शब्द सुनकर मैं कुछ-कुछ जाग पड़ा और मेरा हृदय धड़कने लगा। डर के मारे आँखों के आगे अन्धेरी-सी आने लगी। पर खास बात मेरे ध्यान में उस समय तक भी न आई।

सुबह उठने पर माता की मृत्यु के समाचार हमें मिले, परन्तु उन समाचारों से मेरा कितना और क्या सम्बन्ध है, यह मैं समझ नहीं पाया।

बरामदे में आकर मैं देखता हूँ तो मेरी माता खाट पर सुलाई गई है। उसके चेहरेपर मृत्य का भय पैदा करनेवाले कोई चिन्ह न थे। उस प्रातः समय में मृत्यु का स्वरूप प्रशांत और स्वस्थ निद्रा के समान आल्हादकारक था जीवन और मृत्यु के गूढ़ अन्तर की कोई छाप हमारे हृदय पर उस समय नहीं पड़ी थी।

बड़े फाटक से माता का शव बाहर निकला। हम सब श्मशान में गए। उस समय इस फाटक में पुनः प्रवेश कर गृह-व्यवस्था में अपने स्थान पर मेरी माता अब फिर विराजमान नहीं होगी, यह विचार आते ही मेरा हृदय शोक-सागर के तूफ़ान में डगमगाने लगा। दिन की घड़ियाँ एक के बाद एक व्यतीत होने लगीं। सध्याकाल हुआ। हम लोग श्मशाम से लौटे। अपने मुहल्ले में आते ही मेरी दृष्टि पिताजी के कमरे पर गई। वे बरामदे में अबतक उपासना में तल्लीन निश्चल बैठे थे।

घर की सबसे छोटी बहू ने हम मातृ-विहीन बालकों की सार संभाल का काम हाथों में लिया। हमारे भोजन, कपड़े-लत्ते आदि की व्यवस्था उसने अपने ऊपर लेली थी। इसके सिवा वह सदा हमें अपने ही पास रखती, जिससे कि हमें माता की याद न आने पावे। सजीव वस्तुओं में यह एक गुण होता है कि उपायातीत बातों को वे अपने आप ही ठीक कर लेती हैं और जिन बातों की पूर्ति नहीं हो सकती, उन बातों को भुलाने में सहायता देती हैं। बाल्यावस्था में यह शक्ति विशेष होती है।

इसलिये कोई भी घाव इस अवस्था में गहरा नहीं हो पाता और न कोई व्रण ही स्थायी हो पाता है। हमारे पर पड़ी हुई मृत्यु की यह छाया भी अपने पीछे अन्धकार न छोड़कर शीघ्र ही नष्ट हो गई। आखिर छाया ही तो ठहरी!

जब मैं कुछ बड़ा हुआ, तब वसंत ऋतु में जब कि वनश्री अपने पूर्ण सौंदर्य से प्रफुल्लित रहती है, चमेली के कुछ फूल मैं अपने दुपट्टे के कोने में बाँध लिया करता और पागल के समान इधर-उधर भटकता रहता था। उन सुन्दर कोमल कलियों का जब मेरे मस्तक से स्पर्श होता, तब मैं समझता कि जैसे मेरी स्वर्गीय माता की अंगुलियों का ही स्पर्श हो रहा है। माता की उन कोमल अंगुलियों में भरा हुआ प्रेम और इन कोमल कलियों का प्रेम मुझे एक-सा ही प्रतीत होता था। उन दिनों मुझे ऐसा भी प्रतीत होता था कि भले ही हमें मालूम पड़े या न पड़े अथवा प्राप्त हो या न हो; परन्तु इस जगत में प्रेम लबालब भरा पड़ा है।

मृत्यु का उक्त चित्र मेरी बहुत छोटी अवस्था का है, परन्तु मेरी अवस्था के चौबीसवें वर्ष में मृत्यु से मेरा जो परिचय हुआ, वह चिरकाल से ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। मृत्यु एक के बाद एक आघात करती जा रही है और उसके कारण अश्रुओं का प्रवाह भी बह रहा है।

बाल्यावस्था में कोई चिंता नहीं रहती। यह अवस्था बड़ी बेपरवाही की अवस्था है। बड़े-बड़े संकटों का थोड़े ही समय में विस्मरण हो जाता है। परन्तु अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ संकटों का विस्मरण करना भी अधिकाधिक कठिन हो जाता है। इसलिये बाल्यावस्था रम्य और युवावस्था दुःखद मानी गई है। बाल्यावस्था में हुआ मृत्यु का आघात मैं कभी का भूल गया,

परन्तु प्रौढावस्था के आघात ने मेरे हृदय में बड़ा गहरा जख्म किया।

जीवन के सुख-दुख के अखंड प्रवाह में भी रुकावट खड़ी हो जाती है, यह मैं अब तक नहीं जानता था। इसी कारण मैं जीवन को ही सर्वस्व समझता था। उसके सिवा और कुछ नहीं है, यह मेरी दृढ़ भावना थी। परन्तु जब मेरे कुटुम्ब में मृत्यु का आगमन हुआ, तब उसने मेरे जीवन की शांति के दो टुकड़े कर दिए और उस कारण मैं हड़बड़ा गया। मेरे चारों ओर सर्वत्र—वृक्ष, पक्षी, जल, सूर्य, आकाश, चन्द्र, तारागण आदि सब चराचर पदार्थ पहले के ही समान जैसे-के-तैसे मौजूद थे। उनमें रञ्चमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा था। परन्तु इन्हीं पदार्थों के समान सत्यतापूर्वक पृथ्वीतल पर रहनेवाला तथा मेरे जीवन आत्मा और हृदय से परमार्थ रूप में संलग्न होने के कारण जिसकी सत्यता मौजूदगी—मुझे अधिक परज्ञात थी, वही प्राणी क्षणमात्र में स्वप्न के समान नष्ट हो गया। जब मैंने अपने चारों ओर देखा, तब मुझे आस-पास सारी बातें विसंवदपूर्ण—असत्य प्रतीत होने लगीं। भला-गए हुओं का रहे हुओं से अथवा दृश्य का अदृश्य से मेल कैसे बैठाया जा सकता है?

जीवन-प्रवाह के टुकड़े हो जाने के कारण जो गहरी खोह हो गई उसने मुझे निविड़ एवं भयङ्कर अन्धकार में ला पटका। वह अन्धकार आगे जाकर मुझे रात-दिन अपनी ओर खींचने लगा। मैं उस ओर बार-बार जाने भी लगा और यह चिंतन करते हुए उस अन्धकार को टकटकी लगाकर देखने भी लगा कि अदृश्य हुई वस्तुओं के स्थान को कौन-सी वस्तुओं ने पूर्ति की है। शून्यत्व ऐसी ही चीज है। उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में मनुष्य का विश्वास होना अशक्य है। जिस बात का अस्तित्व नहीं वह

मिथ्या है। जो मिथ्या है उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। यह अपना विश्वास रहता है। अतः जहाँ कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता कुछ न कुछ ढूढ़ने का हमलोग सदा प्रयत्न करते रहते हैं।

जिसप्रकार अंकुर, अंधकार में से प्रकाश में आने की खटपट करता है उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा चारों ओर फैलाये हुए निवृत्ति रूप अन्धकार से आत्मा घिरा हुआ होने पर प्रवृत्ति के प्रकाश में आने का सदा खटपट करता रहता है। अन्धकार के कारण अन्धकार में से निकलने का मार्ग न मिलने के समान और दुःख क्या हो सकता है? ऐसे दुःखांधकार में भी मेरे हृदय में बीच-बीच में आनंद के किरण फैलते और उनसे मुझे आश्चर्य होता। मेरा मन का भार इसी एक दुःखदायक के बात से हलका हुआ करता था कि जीवन स्थिर और अविनाशी नहीं है। किन्तु वह अत्यन्त क्षणभंगुर और चंचल है। यह विचार आनंद की लहरों पर लहरें उत्पन्न करते हुए बार-बार मेरे सामने आ उपस्थित होता कि—"जीवन के मजबूत पत्थरी के भीतर हम सदा के लिए कैदी नहीं हैं।" जो चीज या बात को मैं पकड़े हुए होता और उसे लाचार होकर मुझे छोड़नी पड़ती तो उसके मुझे पहिले तो दुख होता, परन्तु जब मैं उसके छूट जाने के कारण मिले हुए स्वातंत्र्य की दृष्टि से विचार करने लगता तो मुझे शांति और सुख ही प्राप्त होता।

एक ओर जीवन और दूसरी मृत्यु, इसप्रकार दो छोर होने के कारण इस लोक संबंधी निवास का भार हलका हो जाया करता है और अपने इस चक्की में पिस जाने से बच जाते हैं। उस दिन चमत्कार पूर्ण रीति से अचानक और बेजाने मेरे मन पर यह सत्य जम गया कि अबोध जीवन-शक्ति का भार मनुष्य को सहन नहीं करना पड़ता।

जीवन का आकर्षण कम हो जाने के जाने कारण मुझे मालूम पड़ने लगा कि सृष्टि-सौंदर्य रहस्य से भरा पड़ा है। मृत्यु की घटना के कारण विश्व को अतिशय सौन्दर्यमय देखने की ठीक-ठीक कला मुझे प्राप्त हुई और इसके कारण मृत्यु की पृष्ठ भूमि पर मैं विश्व का चित्र देखने लगा। यह चित्र मुझे बड़ा ही मोहक मालूम पड़ा।

इस समय फिर मेरे विचार और व्यवहार में एक अजीबपन दीखने लगा। चालू रीति-रिवाज और संप्रदाय के भारी जुए के आगे कंधा झुका देने के लिए अपने को बाध्य होते देख हमें हँसी आती। मुझे इन बातों में सत्य का अंश कभी प्रतीत नहीं हुआ। इसी तरह दूसरे लोगों के कहने-सुनने की पर्वाह का भार भी मैंने मन पर से हटा दिया था। सुन्दर रीति से सजाई हुई पुस्तकों की दूकान पर एक मोटा-सा वस्त्र शरीर पर डालकर और पैर में चप्पल पहन कर मैं कई बार गया हूँ। वर्षा, शीत और उष्ण इन तीनों ऋतुओं में तीसरे मंजिल पर मैं बरामदे में सोया करता था। वहाँ से तारका मंडल और मैं दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह देखा करते। बिना एक क्षण का विलंब किए हमें उषा देवी के स्वागत का भी यहीं प्रायः अवसर मिला करता।

यह ध्यान रखना चाहिये कि इसप्रका के व्यवहार से विरक्ति का कोई संबंध नहीं था। यदि विद्यार्थी यह समझने लगा जाँय कि 'अध्यापक कोई प्रत्यक्ष वस्तु न होकर एक कल्पनिक प्राणी हैं तो परिणाम यह होगा कि वे पाठशाला की व्यवस्था के नियमों को तोड़-मरोड़ कर अपनी छुट्टी समझते हुए खेल-कूद में दिन व्यतीत कर देंगे। मेरी यही दशा थी। मैं समझने लगा था कि यह जीवन एक मिथ्या वस्तु है। अतएव इससे संबंध रखने

मालूम होता है कि कोई पागल-स्त्री विद्युत रूपी छुरी हाथ में लेकर आकाश को इस छोर-से-उस छोर तक चीर रही है। झंझावात से चिकें जोर-जोर से हिल रही हैं। इतना अन्धकार हो गया है कि बड़ी कठिनाई से हमलोग अपनी पुस्तक पढ़ सकते हैं। पंडितजी ने अपनी-अपनी पुस्तकें बन्द करने की हमें आज्ञा दे दी है। हमारे हिस्से में आई हुई धूमधाम और हाँ हूँ करने के लिये इस समय, हमने मेचों को आम इजाजत दे रखी है। अधर लटक कर अपने झूलते हुए पैरों को हम हिला रहे हैं। ऐसे समय में जिसप्रकार किसी काल्पनिक कहानी का नायक राजपुत्र कोई जङ्गल में भटकता हो, उसप्रकार मेरा मन भी उस अति दूरस्थ अरण्य में सीधा चला जा रहा है, ऐसा मालूम होता था।

इसके सिवा श्रावण मास की गंभीर रात्रियों का मुझे अच्छी तरह स्मरण है। बीच-बीच में नींद खुल जाती है। पानी की बूँदें प्रशांत निद्रा की अपेक्षा अधिक प्रशान्त और आनन्ददायक प्रतीत होती हैं। जागृत होने पर मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि रात भर पानी इसी प्रकार पड़ता रहे। हमारा हौज पानी से लबालब भर जाय और स्नान करने की 'वापी' में इतना पानी आ जाय कि वह ऊपर की सीढ़ी तक जा पहुँचे।

इसके बाद मैं जिस अवस्था का वर्णन करता हूँ, उसमें निश्चयतः शरद ऋतु का साम्राज्य है। आश्विन मास के शांत वातावरण में यह साम्राज्य फैला हुआ दीख रहा है। ओस से भीजी हुई हरियाली के तेज से प्रतिबिंबित शारदीय सुनहले सूर्य प्रकाश में मैं बरामदे में चक्कर मारा करता।

शरद ऋतु का दिन अब ऊपर चढ़ आया है। घर के घंटे ने बारह बजा दिए हैं। इसके साथ-ही-साथ मेरे मन की स्थिति

श्रौर उसके साथ गाने का राग भी बदल गया है। मेरा मन सङ्गीत में तल्लीन हो गया है। अब उद्योग या कर्तव्य की पुकार के लिये कोई स्थान नहीं रह गया है। मैं अपना गीत आगे रचने में लगा ही हुआ हूँ।

दोपहर के बाद में अपने कमरे में चित्र बनाने की पोथी हाथ में लेकर चित्र बनाने के प्रयत्न में अपनी बैठक पर पड़ा हुआ हूँ। यह कोई चित्र-कला का पीछा पकड़ना नहीं माना जा सकता। यह तो चित्र बनाने की इच्छा के साथ खेल-खेलना हो सकता है। इन सबके बीच में रही हुई मुख्य बात तो मन-के-मन ही रह जाती है। उसका तो नाम-मात्र भी कागज पर नहीं लिखा जाता। इतने ही में शरद ऋतु का तीसरा पहर कलकत्ते की उन छोटी-छोटी भीतों पर से जाता हुआ दीख पड़ता है और जाते-जाते मेरे कमरे को सुवर्ण के प्याले के समान उन्माद से भरता जाता है।

खेतों में फसल पक जाने के समान जिस शरद ने मेरे काव्य की वृद्धि कर उसे पूर्णता को पहुँचाया, जिसने मेरे अवकाश की कोठी को प्रकाश से प्रकाशित कर दिया, पद और गायन रचते समय जिसने मेरे खुले मन पर आनन्द और धैर्य का प्रवाह बहाया, मानो उस शरदऋतु के आकाश में-से ही उस समय के दिनों को मैं देख रहा हूँ, अथवा मानो मैं उस शरद के प्रकाश के द्वारा अपने जीवन का निरीक्षण कर रहा हूँ, ऐसा मुझे मालूम होता था, यह मुझसे नहीं कहा जा सकता।

मेरी बाल्यावस्था की वर्षा ऋतु और तरुण्य की शरदऋतु में मुझे एक बड़ा अन्तर दिखलाई पड़ रहा है। वह यह कि बालपन में तो अपने असंख्य साधनों, चमत्कारपूर्ण स्वरूपों, तथा नाना विध गायनों के द्वारा मुझे तल्लीन बनाकर आश्चर्य चकित

४३

कड़ी ओ कोमल

यह एक संध्याकालीन गीत है, जो मानव देह रूपी गृह के आगे से जानेवाले रास्ते पर से गया जाने योग्य है। अथवा इस रास्ते पर-से सुनने योग्य है। उस गूढ़तम प्रदेश में प्रविष्ट होकर रहने की आज्ञा प्राप्त करने के लिये यह गीत गाया गया है। इस गीत में की हुई प्रार्थना मनुष्य-प्राणी विश्वात्मा से करता रहता है।

जब मैं दूसरी बार विलायत को जाने लगा, तब जहाज पर ही आशुतोष चौधरी से मेरा परिचय हो गया। इन्होंने हाल ही में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया था और बैरिस्टरी पास करने विलायत जा रहे थे। कलकत्ते से मद्रास तक जाने में हमारा उनका साथ हुआ। इनकी सगति से ऐसा प्रतीत हुआ कि स्नेह की गंभीरता परिचय की अधिकता या न्यूनता पर निर्भर नहीं है। इस थोड़े से ही समय में चौधरीबाबू ने हमें प्रेमपूर्ण सादे और अकृत्रिम गुणों से इतना अपना लिया कि मानो हमारी उनकी जन्म से ही मैत्री हो और उनमें कभी भी बाधा न पड़ी हो।

विलायत से लौटने पर 'आशु' हमारे में का ही एक बन गया।* अभी उसके धंधे का जाल अधिक नहीं फैला था और न उसके ग्राहकों के पैसे की थैलियाँ ही इतनी अधिक ढीली हुई थीं। इसलिये उसमें साहित्य के विविध उद्यानों से मधु एकत्रित करने का उत्साह मौजूद था।

उसे फ्रेंच साहित्य से बड़ा प्रेम था। उस समय मैं कुछ कविता रच रहा था। ये कविताएँ आगे जाकर 'कड़ी ओ कोमल' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई। 'आशु' कहा करता था कि मेरी कविता में और प्राचीन फ्रेंच कविता में साम्य है। इस काव्य में विश्वजीवन के खेल से कवि पर पड़ी हुई मोहिनी इसी तत्व का प्रतिपादन किया है और उसे भिन्न-भिन्न स्वरूप में व्यक्त किया है, ऐसा उसका मत था। विश्व-जीवन में प्रवेश करने की इच्छा ही इन सब कविताओं का एक मात्र उद्देश्य था।

इन सब कविताओं को एक स्थान पर क्रमपूर्वक एकत्रित कर उन्हें छपवाने और प्रकाशित करने का काम आशु ने अपने ऊपर लेने की इच्छा प्रदर्शित की, अतः यह काम उसे सौंपा गया। 'कड़ी ओ कोमल' नामक कविता उसे सब कविताओं की कुंजी मालूम हुई। इसलिये उसने उस कविता को ग्रन्थ में प्रथम स्थान दिया।

आशु का कहना बिलकुल ठीक था। बाल्यावस्था में मुझे घर से बाहर जाने की आशा नहीं थी। उस समय मैं अपनी गली पर की दीवालों के झरोखों में से बाह्य सृष्टि के विविध

---

* रविबाबू की भतीजी के साथ आशुबाबू का विवाह हो जाने के कारण यह कहा गया है।

स्वरूपों की ओर आशा लगाए देखता और उसे अपना हृदय अर्पण किया करता था। तारुण्य में प्रविष्ट होने पर मानवी सृष्टि ने, बाह्य सृष्टि के समान मुझे मोहित कर डाला। बाल्यावस्था में बाह्य सृष्टि के साथ एक अपरिचित मनुष्य के समान मैं दूर से ही बातचीत किया करता था। तारुण्य में भी वही हालत है। मानवीय सृष्टि से मैं रास्ते की एक ओर खड़ा होकर दूर से ही परिचय करता हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरा मन सागर के तट पर खड़ा हुआ है। सागर के उस तट पर से नाव की पतवार चलाता हुआ नाविक मुझे उत्सुकतापूर्वक अपने हाथ के इशारे से बुला रहा है और कहना चाहिए कि मन भी इस प्रवास के लिये एक सरीखा छटपटा रहा है।

यह कहना ठीक नहीं कि मुझे समाज में मिल जाना नहीं आता। एक विशेष प्रकार के एकांत जीवन में मेरा लालन-पालन हुआ है और इसलिये सांसारिक जीवन से हिल-मिल जाने में यह बात बाधक हो गई है। परन्तु सामाजिक व्यवहारों में सर्वथा गढ़ जानेवाले देश-बान्धवों में भी मुझसे अधिक समाज-स्नेह के चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ते। हमारे देश के जीवन-प्रवाह का किनारा ऊंचा है। उसपर घाट बने हुए हैं। उसके काले-काले पानी पर प्राचीन वृक्षों की ठंढी छाया फैली हुई है। वृक्षों की शाखाओं पर पत्तों में छिपी कोकिला प्राचीन गीत गा रही है। यह सब कुछ है, परन्तु अब वह प्रवाह बहना बन्द हो गया है। पानी एक जगह रुका पड़ा है। भला! उसका वह प्रवाह क्यों बन्द हो गया? उसपर उठनेवाली लहरें क्यों बन्द हो गईं? सागर की भर्ती का पानी किस समय इस प्रवाह में घुसता होगा?

विलायत से लौटने पर 'आशु' हमारे में का ही एक बन गया।* अभी उसके धंधे का जाल अधिक नहीं फैला था और न उसके ग्राहकों के पैसे की थैलियाँ ही इतनी अधिक ढीली हुई थीं। इसलिये उसमें साहित्य के विविध उद्यानों से मधु एकत्रित करने का उत्साह मौजूद था।

उसे फ्रेंच साहित्य से बड़ा प्रेम था। उस समय मैं कुछ कविता रच रहा था। ये कविताएँ आगे जाकर 'कड़ी ओ कोमल' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुईं। 'आशु' कहा करता था कि मेरी कविता में और प्राचीन फ्रेंच कविता में साम्य है। इस काव्य में विश्वजीवन के खेल से कवि पर पड़ी हुई मोहिनी' इसी तत्य का प्रतिपादन किया है और उसे भिन्न-भिन्न स्वरूप में व्यक्त किया है, ऐसा उसका मत था। विश्व-जीवन में प्रवेश करने की इच्छा ही इन सब कविताओं का एक मात्र उद्देश्य था।

इन सब कविताओं को एक स्थान पर क्रमपूर्वक एकत्रित कर उन्हें छपवाने और प्रकाशित करने का काम आशु ने अपने ऊपर लेने की इच्छा प्रदर्शित की, अतः यह काम उसे सौंपा गया। 'कड़ी ओ कोमल' नामक कविता उसे सब कविताओं की कुञ्जी मालूम हुई। इसलिये उसने उस कविता को ग्रन्थ में प्रथम स्थान दिया।

आशु का कहना बिलकुल ठीक था। बाल्यावस्था में मुझे घर से बाहर जाने की आज्ञा नहीं थी। उस समय मैं अपनी गद्दी पर की दीवालों के झरोखों में-से बाह्य सृष्टि के विविध

---

* रविबाबू की भतीजी के साथ आशुबाबू का विवाह हो जाने के कारण यह कहा गया है।

स्वरूपों की ओर आशा लगाए देखता और उसे अपना हृदय अर्पण किया करता था। तारुण्य में प्रविष्ट होने पर मानवी सृष्टि ने, बाह्य सृष्टि के समान मुझे मोहित कर डाला। बाल्यावस्था में बाह्य सृष्टि के साथ एक अपरिचित मनुष्य के समान मैं दूर से ही बातचीत किया करता था। तारुण्य में भी वही हालत है। मानवीय सृष्टि से मैं रास्ते की एक ओर खड़ा होकर दूर से ही परिचय करता हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरा मन सागर के तट पर खड़ा हुआ है। सागर के उस तट पर से नाव की पतवार चलाता हुआ नाविक मुझे उत्सुकतापूर्वक अपने हाथ के इशारे से बुला रहा है और कहना चाहिए कि मन भी इस प्रवास के लिये एक सरीखा छटपटा रहा है।

यह कहना ठीक नहीं कि मुझे समाज में मिल जाना नहीं आता। एक विशेष प्रकार के एकांत जीवन में मेरा लालन-पालन हुआ है और इसलिये सांसारिक जीवन से हिल-मिल जाने में यह बात बाधक हो गई है। परन्तु सामाजिक व्यवहारों में सर्वथा गढ़ जानेवाले देश-बान्धवों में भी मुझसे अधिक समाज-स्नेह के चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ते। हमारे देश के जीवन-प्रवाह का किनारा ऊँचा है। उसपर घाट बने हुए हैं। उसके काले-काले पानी पर प्राचीन वृक्षों की ठंडी छाया फैली हुई है। वृक्षों की शाखाओं पर पत्तों में छिपी कोकिला प्राचीन गीत गा रही है। यह सब कुछ है, परन्तु अब वह प्रवाह बन्द हो गया है। पानी एक जगह रुका पड़ा है। भला! वह प्रवाह क्यों बन्द हो गया? उसपर उठनेवाली बन्द हो गई? सागर की भर्ती का पानी किस-समय में घुसता होगा?

मनुष्य यदि एकांत में—आलस्य में—दिन व्यतीत करता है, तो उसका मन क्षुब्ध हो जाता है। उसपर निराशा का साम्राज्य छा जाता है। क्योंकि इस स्थिति में जीवन-व्यवहार से निकट सम्बन्ध नहीं रह पाता। इस निराशाजनक स्थिति से छुटकारा पाने का मैंने खूब प्रयत्न किया। उस समय के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने को तो मेरा मन स्वीकार नहीं करता था। क्योंकि उसमें जीवनी-शक्ति का अभाव दिखलाई पड़ता था। साथ में देश का पूर्ण अज्ञान और मातृभूमि की सेवा की छटपटाहट का पूर्ण अभाव भी मौजूद था। मुझे अपने आपके प्रति और इसी प्रकार मेरे आस-पास की सब बातों के प्रति बड़ा असंतोष था। इस कारण मैं अघोर थक गया था, और मैं अपने ही आप से कहा करता था कि मैं यदि स्वच्छंदता-पूर्वक भटकनेवाला 'अरब-बे दुईन' हुआ होता, तो कितना अच्छा होता।

जगत के दूसरे हिस्सों में स्वतंत्र जीवन क्रम का आन्दोलन कभी बन्द नहीं होता। वहाँ मनुष्य-मात्र इसके लिये अव्याहत प्रयत्न चलता रहता है और हम ? हम तो कहानी की मिस्त्रियों के समान एक ओर खड़े रहकर बड़ी लालसा से रास्ता जोहते रहते हैं। अपनी तैयारी करके जगत के स्वातंत्र्योत्सव में शामिल होने का क्या हमें भी कभी अवसर मिला है ? जहाँ फूट का साम्राज्य है, एक दूसरे को अलग करनेवाली हजारों बातें प्रचलित हैं, ऐसे देश में जगत के स्वातंत्र्य का स्वतः अनुभव प्राप्त करने की लालसा अपूर्ण ही रहेगी।

बाल्यावस्था में अपने नौकरों द्वारा खींची हुई सफेद खड़ी की रेखाओं के भीतर रहकर जिस जिज्ञासा से मैं बाह्य सृष्टि को

देखता रहता था, उसी जिज्ञासा से अपनी इस तरुणावस्था में भी मानव-सृष्टि की ओर देखता रहता था। ये बातें यद्यपि मुझे कभी तो प्राप्त होनेवाली, कभी प्राप्त न होनेवाली, कभी मुझसे अत्यन्त दूर रहनेवाली प्रतीत हुईं, तो भी उनसे यदि सम्बन्ध न हुआ, उनके द्वारों कभी वायु की लहरें उत्पन्न न हुईं, उनका प्रवाह बहने न लगा और प्रवासियों के आने-जाने योग्य वहाँ रास्ता न हुआ, तो फिर हमारे चारों ओर एकत्रित मृत्यु वस्तुएँ कभी दूर न होंगी और उनका एक बड़ा भारी ढेर हो जायगा, जिसके नीचे हमारा जीवन बिना कुचले न रहेगा।

वर्षाकाल में केवल काले मेघ आकाश में जमा हो जाते हैं और फिर पानी गिरने लगता है। शरद ऋतु के आकाश में बिजली चमकती है, मेघ गरजते हैं परन्तु पानी नहीं पड़ता और एक दृष्टि से यह ठीक भी होता है, क्योंकि यह फसल आने का समय होता है। यही बात मेरे कवित्व के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कवित्व के जीवन में जब वर्षा ऋतु का साम्राज्य था, तब कल्पना के भाफ के सिवा उस समय मेरे पास कुछ नहीं था। कल्पना के मेघ जमाते और मूसलधार पानी पड़ने लगता। उस समय मैं जो कुछ लिखता वह अस्पष्ट होता और मेरी कविता स्वैर सचार किया करती। परन्तु मेरे कवि जीवन के शरद काल में रचे हुए 'कड़ी ओ कोमल' नामक पद्य समुच्चय के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकेगा कि आकाश मेघों से व्याप्त था और पृथ्वीतल पर फसल आती हुई दिखलाई पड़ती थी। उस समय वास्तविक जगत से मैं परिचय कर रहा था। इन्हीं दिनों मेरी भाषा और छन्दों ने निश्चयतः नाना प्रकार के रूप धारण करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार मेरी जीवन—पुस्तिका के दूसरे भाग का अन्त हुआ। अब "अन्तर्बाह्य के एकत्रित होने के" परिचित से अपरिचित का मेल करा देने के दिवस चले गये। अब मुझे अपना जीवन-प्रवास मनुष्यों के निवास स्थान में ही रहकर पूरा करना है। इस प्रवास में प्राप्त होनेवाली भली-बुरी बातों या सुख-दुख के प्रसंगों की ओर अब हेतु-रहित होकर चित्र के समान द्रष्टा बनने से काम नहीं चलेगा। अब तो इनका गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा। एक ओर नई-नई बातें उत्पन्न हो रही हैं और दूसरी ओर कुछ बातें लय होती जाती हैं। एक ओर जयदुन्दुभिनाद हो रहा है और दूसरी ओर मुख पर अपयश की कालिमा छा रही है। एक ओर आपसी झगड़े बढ़ रहे हैं, तो दूसरी ओर अन्तःकरण के मिलने से आनन्द-ही-आनन्द छा रहा है। इसप्रकार इस जीवन में एक दूसरे के विरुद्ध अनेक प्रकार की अनंत घटनाएँ प्रति समय घटित हो रही हैं।

जीवन के अन्तिम रहस्यमय साध्य तक पहुँचने के मार्ग में अनंत अड़चनें अनेक शत्रु और विषमताएँ हैं। इन सबों के बीच में-से मेरा पथ-प्रदर्शक बड़े उत्साह और कौशल्य से मेरे लक्ष्य की ओर मुझे ले जा रहा है। उस कुशलता का वर्णन करने का अथवा उस मार्ग की रूप-रेखा चित्रित करने की शक्ति मुझ में नहीं है। इस मार्ग की गहन गूढ़ता को स्पष्ट करने की शक्ति मेरे में न होने से मैं इस सम्बन्ध में यदि कोई चित्र खींचूंगा, तो मुझे आशा है कि उसमें पद पद पर भ्रम ही उत्पन्न होगा। उस प्रतिमा की रूप-रेखा चित्रित कर, उसके भिन्न-भिन्न भागों को दिखाने का प्रयत्न असफल होगा। उसमें सफलता नहीं

मिलेगी। हाँ, ऊपर की धूलि भले ही मिल जाय, पर अन्तरङ्ग की भेंट का आनंद अपने को प्राप्त न होगा।

इसलिये अंतरात्मा के देवालय के द्वार तक अपने पाठकों को पहुँचाकर अब मैं उनसे बिदा होता हूँ।

Printed by Girja Shankar Mehta, at the
Mehta Fine Art Press, Benares.